सूचना

पाठक ! यह वाजसनेय उपनिषद् का सरल भाषानुवाद आप की सेवा में समर्पित किया जाता है । वास्तव में यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का ४० वां अध्याय है, जो कि ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक होने से सब से पहिली उपनिषद् मानी गई है । इस में संहिता के पाठों से " [illegible] " यह श्लोक अधिक है और "हिरण्मयेन पात्रेण" इस मन्त्र में "तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये " इतना पाठ अधिक है और अन्तिम तीन मन्त्रों का क्रमभेद भी है, सो औपनिषद सम्प्रदायानुसार वह सुरक्षित रक्खा गया है । इस उपनिषद् को ईशोपनिषद् भी कहते हैं, इस लिये कि इस का आरम्भ ' ईश ' शब्द से होता है ॥

अनुवादक

ओ३म्

अथ वाजसनेयोपनिषद्

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(यत्, किं, च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) चलायमान संसार है (इदम्, सर्वम्) यह सब (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादनीय है। (तेन, त्यक्तेन) उस ईश्वर के दिये हुवे पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोग कर (मा, गृधः) मत लालच कर (धनम्) धन (कस्य, स्वित्) किस का है ? ॥ १ ॥

भावार्थः—यह सारा जगत् जो कि स्थावर जङ्गम तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज आदि योनियों में तथा सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि लोकों में एवं पृथिव्यादि भूतों में तथा भूतादि कालों में विभक्त है, यह सब उस ईश्वर से [जो इस का नियामक और नियोजक है] आच्छादित और अधिष्ठित है अर्थात् कोई वस्तु, देश और काल ऐसा नहीं जो उस नियन्ता पुरुष की व्याप्ति और अधिकार से बाहर हो। अतएव हे जीव ! तू सर्वदा उसी के दिये हुवे अर्थात् अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उपार्जन किये हुवे फलों का भोग कर, अन्याय से वा लालच से अन्यों के धनादि पदार्थों की [जिन पर तेरा कोई स्वत्व नहीं है] लेने की इच्छा मत कर क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

पदार्थः—(इह) यहां पर (कर्माणि) कर्त्तव्य कर्मों को (कुर्वन्, एव) करता हुवा ही (शतं, समाः) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे। (एवम्) इस प्रकार निष्काम कर्म करते हुवे (त्वयि—नरे) तुझ मनुष्य में (कर्म) किया हुवा (न, लिप्यते) नहीं लिपटैगा। (इतः) इस से (अन्यथा) विपरीत कर्माऽलेप का और कोई उपाय (न अस्ति) नहीं है ॥ २ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्म शब्द से कर्त्तव्य का ग्रहण है। जो मनुष्य फल में आसक्त न होकर अपने कर्त्तव्य का आचरण करते हैं उन के लिये कर्म बन्धन का हेतु नहीं होसकता। तात्पर्य यह है कि फलासक्ति ही मनुष्य को कर्म के बन्धन में फंसाती है। भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है "मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"=हे अर्जुन! तू कर्मफल की इच्छा करने वाला मत हो और कर्म के न करने में भी तेरी रुचि न हो। अर्थात् सदा निष्काम कर्म किया कर॥ २॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

पदार्थः—(ये, के, च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा के हनन करने वाले (जनाः) मनुष्य हैं (ते, ते) वे वे (अन्धेन–तमसा) तमरूप अन्धकार से (वृताः) ढके हुवे (असुर्याः, नाम, लोकाः) असुरसम्बन्धी प्रसिद्ध जो लोक हैं (तान्) उन को (प्रेत्य) मरकर (अभिगच्छन्ति) सब ओर से प्राप्त होते हैं॥

भावार्थः—इस मन्त्र में आत्महन् शब्द से दो प्रकार के मनुष्यों का ग्रहण होता है। एक वे कि जो अपने किये हुवे कर्मों का फल भोगने वाले आत्मा को नहीं मानते, किन्तु प्राण और देहादि को ही आत्मा मानकर उन का पोषण करते हैं और यह कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियों के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, जो कर्म का फल भोगे। दूसरे वे कि जो आत्मा के अनुकूल सत्य का हनन कर तत्प्रतिकूल असत्य का पोषण करते हैं। ऐसे लोग तामस गति को प्राप्त होते और असुर कहलाते हैं॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

पदार्थः—(अनेजत्) नहीं चलता हुवा (एकम्) एक ब्रह्म (मनसो, जवीयः) मन से भी अधिक वेगवान् है (एनत्) उन को (देवाः) इन्द्रियगण (न, आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होते। यद्यपि ब्रह्म व्यापक होने से उन में (पूर्वम्, अर्षत्) पहिले से ही पहुंचा हुवा है। (तत्, तिष्ठत्) वह ठहरा हुवा भी (धावतः, अन्यान्) दौड़ते हुवे अन्य पदार्थों को (अत्येति) उल्लङ्घन

कर जाता है। (तस्मिन्) उस में (मातरिश्वा) सूत्रात्मा वायु (अपः) कर्मों को (दधाति) धारण करता है। यद्वा (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थवायु (अपः) जलों को (दधाति) धारण करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—पाठकों को आश्चर्य हुवा होगा कि ठहरा हुवा पदार्थ दौड़ते हुवों का उल्लङ्घन कैसे कर सकता है? निस्सन्देह एकदेशीय पदार्थों में तो ऐसा होना असम्भव है, परन्तु ब्रह्म के सर्वगत होने से उस का तो कहींपर अभाव ही नहीं, फिर वह किस से अतिक्रमण किया जा सकता है? भौतिक पदार्थों में यद्यपि मन बड़ा वेगवान् हैं जो पलभर में सहस्रों कोश चला जाता है, परन्तु यह जहां जाता है वहीं का हो रहता है। अर्थात् एक समय में सब तो क्या, दो देशों को भी नहीं घेर सकता। फिर भला उस ब्रह्म का, जो युगपत् सारे ब्रह्माण्ड में एकरस व्याप्त हो रहा है, क्योंकर यह अत्ययन कर सकता है? कदापि नहीं। उसी आत्मा में सूत्रात्मा वायु कर्मों को धारण करता है अर्थात् उसी के आश्रय से जीवात्मा कर्म करनेमें समर्थ होता है। यद्वा निराधार आकाश में यद्यपि कोई वस्तु ठहर नहीं सकती, परन्तु उस सर्वाधार के आश्रय से वायु मेघरूप जलों को धारण करता है। यह उसी की महिमा है ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(तत्) वह (एजति) चलता है (तत्) वह (न एजति) नहीं चलता। (तद्) वह (दूरे) दूर है (तद्, उ) वह, ही (अन्तिके) पास है (तद्) वह (अस्य–सर्वस्य) इस सब के (अन्तः) भीतर है (तद्, उ) वह ही (अस्य–सर्वस्य) इस सब के (बाह्यतः) बाहर है ॥ ५ ॥

भावार्थः—आत्मतत्त्व के न जानने वाले पुरुष कह उठेंगे कि ये परस्पर-विरुद्ध धर्म एक पदार्थ में कैसे रह सकते हैं? निस्सन्देह किसी भौतिक एवं परिच्छिन्न पदार्थ में ऐसे दो विरुद्ध धर्मों का होना असम्भव है, परन्तु ब्रह्म के लिये, जिस की सत्ता का कहीं पर भी अवरोध नहीं, यह परस्पर व्याघात नहीं कहलाता। प्रत्युत भौतिक पदार्थों से उस की भिन्नता और विलक्षणता सिद्ध करता है। यद्यपि वह अपने स्वरूप से नहीं चलता, तथापि जगत् के चलायमान होने से लोग एजनक्रिया का कर्त्ता उसी को समझते

लगते हैं । एवं व्यापक होने से वह सब के पास है, परन्तो भी सूक्ष्म होने से वही अतिदूर हो जाता है। "अणोरणीयान् महतोमहीयान्"="सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान्" क्या सिवाय ब्रह्म के किसी अन्य पदार्थ का ऐसा निर्वचन कर सकते हैं? कदापि नहीं। यद्वा दूर, समीप और भीतर, बाहर दोनों जगह व्यापक होने से ऐसा कहा गया ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यः) जो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों वा पदार्थों को (आत्मनि, एव) आत्मा में ही (च) और (आत्मानम्) आत्मा को (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों वा वस्तुओं में (अनुपश्यति) देखता है (ततः) ऐसा देखने से (न, विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में आत्मन् शब्द से परमात्मा और जीवात्मा दोनों का ग्रहण इष्ट है। आद्य पद में तो यह अर्थ होगा कि जो परमात्मा को समस्त वस्तुजात में और वस्तुमात्र को परमात्मा में सन्निविष्ट देखता है, उस से कोई ऐसा कर्म, जो निन्दनीय हो, नहीं हो सकेगा क्योंकि अपने स्वामी की उपस्थिति में कोई निन्द्य कर्म नहीं कर सकता। अन्त्य पद में जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को सब प्राणियों में देखता है अर्थात् अपने समान सुख दुःख सब का अनुभव करता है, वह किसी का अनिष्टसाधनरूप निन्दित कर्म नहीं कर सकेगा ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(एकत्वम्) ब्रह्म के अद्वैतभाव को (अनुपश्यतः) देखते हुये (विजानतः) ज्ञानी पुरुष को (यस्मिन्) जिस दशा में (सर्वाणि-भूतानि) सब प्राणी (आत्मा, एव, अभूत्) आत्मा ही हो जाते हैं (तत्र) उस दशा में (कः, मोहः) क्या मोह? (कः, शोकः) क्या शोक? [अर्थात् कुछ भी नहीं]॥७॥

भावार्थः—प्रिय पदार्थों के वियोग से शोक और मोह उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जिस में जितनी अधिक ममत्वबुद्धि रखता है, उतना ही अधिक उस के वियोग से उस को दुःख होता है। हम रात दिन देखते हैं कि जिन प्राणियों का हम से विशेष सम्बन्ध नहीं है, उन का वियोग हमारे लिये

वैसा दुःखदायी नहीं होता, जैसा कि घनिष्ठ सम्बन्ध वालों का। बस इस से सिद्ध है कि ममता ही दुःख का कारण है, न कि वियोग। क्योंकि ममता के अभाव में वियोग के होते हुवे भी मनुष्य को कुछ दुःख नहीं होता और यह ममता तभी छूटती है जब कि मनुष्य जगत को आत्ममय देखता है अर्थात् शरीरादि से होते हुवे भी उन में उस की ममत्वबुद्धि नहीं रहती। यद्वा जो सब को आत्मा जानकर उन में एक आत्मा ही को देखता है, उसे फिर क्या मोह? और क्या शोक? कुछ भी नहीं ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः—जो (शुक्रम्) सब जगत् का उत्पादक (अकायम्) शरीररहित (अव्रणम्) छिद्ररहित (अस्नाविरम्) नाड्यादिवर्जित (शुद्धम्) पवित्र (अपापविद्धम्) पापशून्य (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषी) मन का साक्षी (परिभूः) सब का अध्यक्ष (स्वयंभूः) कारणरहित है (सः) वह (परि, अगात्) सर्वत्र पहुंचा हुवा है। उस ने (शाश्वतीभ्यः) निरन्तर (समाभ्यः) वर्षों के लिये (याथातथ्यतः) ठीक २ (अर्थान्) पदार्थों को (व्यदधात्) रचा है ॥ ८ ॥

भावार्थः—उक्त मन्त्रों में जिस आत्मा का वर्णन किया गया, अब इस मन्त्र में उस के स्वरूप का निरूपण करते हैं—वह परमात्मा विभु होने से सर्वत्र प्रकाशमान है, अतएव स्थूल सूक्ष्म और लिङ्ग इन तीनों प्रकार के शरीरों से रहित है, अतएव नाड़ी, नस और व्रणादि के विकारों से रहित है, अतः शुद्ध और पापरहित है। वही सर्वद्रष्टा सर्वान्तर्यामी और सर्वोपरि विराजमान है। उस का कोई कारण नहीं किन्तु वही सबका आदिकारण है। उस ने सदा के लिये कल्प की आदि में ही वेदरूप अनादि विद्या के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार फलों का विधान कर दिया और सब को रचा है ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ये) जो लोग (अविद्याम्) अविद्या की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धन्तमः) गाढ़ अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ये, उ) और जो (विद्यायाम्) विद्या में (रताः) तत्पर हैं (ते) वे (ततः) उस से भी (भूयः, एव) अधिक ही (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में अविद्या शब्द से कर्मकाण्ड और विद्या शब्द से ज्ञानकाण्ड का निर्देश किया गया है अर्थात् जो मनुष्य ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा करके केवल कर्म की उपासना करते हैं, वे कर्म में लिप्त होकर वार-वार जन्ममरण के प्रवाहरूप अन्धकार में पड़ते रहते हैं और जो कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके केवल ज्ञान की शुष्कचर्चा में लगे हुवे हैं, वे संसार और परमार्थ दोनों से वञ्चित रहकर अपने जन्म को निष्फल बनाते हैं। इसी लिये वे कर्म वालों की अपेक्षा अधिक अन्धकार में हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरऽविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

पदार्थः—(विद्यायाः) विद्या से (अन्यद्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं, (अविद्यायाः) अविद्या से (अन्यद्) और फल (आहुः) कहते हैं। (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के वचन, हम (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे प्रति (तद्) उस का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—धीर पुरुषों ने ज्ञान और कर्म का फल भिन्न २ वर्णन किया है। यथा—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"=ज्ञान का फल मोक्ष है। एवं "स्वर्गकामो यजेत"=यज्ञादि कर्म का फल स्वर्ग है ॥ १० ॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (विद्याम्) विद्या को (च) और (अविद्यां, च) अविद्या को भी (तद्, उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ २ (वेद) जानता है (सः) वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्) मौत को (तीर्त्वा) तर कर (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य ज्ञान और कर्म का साथ २ उपयोग करते हैं अर्थात् ज्ञान के द्वारा कर्म को और कर्म के द्वारा ज्ञान को सार्थक बनाते हैं, उन को ज्ञानपूर्वक कर्म मृत्यु से तराता है [जो विना ज्ञान के मृत्यु (बन्धन) का कारण था] और कर्मसहित ज्ञान मोक्ष का अधिकारी बनाता है (जो विना कर्म के मोक्ष तो मोक्ष, स्वर्ग से भी वञ्चित रखता था) ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥

पदार्थः-(ये) जो लोग (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं, (ते) वे (अन्धतमः) गाढ अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । (ये, उ) और जो (सम्भूत्याम्) सम्भूति में (रताः) लगे हुवे हैं (ते) वे (ततः) उस से भी (भूय इव) अधिक ही (तमः) अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र में 'असम्भूति' शब्द से कारणरूप प्रकृति और सम्भूति से कार्यरूप जगत् का ग्रहण होता है । "सम्भवनं सम्भूतिः, न सम्भवनम् असम्भूतिः" उत्पन्न होने का नाम सम्भूति है और उत्पन्न न होने को असम्भूति कहते हैं । यद्यपि ब्रह्म और जीव भी अनादि होने से उत्पन्न नहीं हुए तथापि वे किसी का उपादान कारण न होने से कार्यरूप में परिणत नहीं होते । केवल अनादि प्रकृति ही जगत् का उपादान होने से असम्भूति का वाच्यार्थ है । अतएव उस ब्रह्म के स्थान में जो अनुत्पन्न प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में गिरते हैं और जो उस से उत्पन्न कार्यरूप जगत् में ईश्वरबुद्धि से रत हैं वे तो महान्धकार में पड़े हुवे हैं । यद्वा, जो असम्भूति की उपासना करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि यह जगत् न कभी उत्पन्न हुवा, न है और न होगा; किन्तु सब शून्यमय है । ऐसे शून्यवादी अन्धकारग्रस्त हैं । एवमेव जो केवल सम्भूति की उपासना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि इस जगत् का कोई अदृश्य कारण नहीं, न कोई अनुत्पन्न अनादि पदार्थ है किन्तु यह जगत् सदा से ऐसा ही है और ऐसा ही रहेगा, इस का कभी विनाश न होगा । ऐसे प्रत्यक्षवादी (नास्तिक) उस से भी अधिक अन्धकार में पड़ते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

पदार्थः—(सम्भवात्) सम्भूति से (अन्यद्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति से (अन्यद्) और फल (आहुः) कहते हैं । (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीरपुरुषों के वचन हम (शुश्रुम) सुनते हैं, (ये) जो (नः) हमारे प्रति (तद्) उस का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—धीरपुरुषों ने कार्य और कारण का भिन्न २ फल वर्णन किया है । यथा—कार्य की उपासना से ऐहिक क्षणिक सुख और कारण की उपासना से प्राकृतिक विज्ञान की वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (सम्भूतिम्) सम्भूति को (च) और (विनाशं, च) असम्भूति को भी (तद्, उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ २ (वेद) जानता है (सः) वह (विनाशेन) असम्भूति से (मृत्युम्) मौत को (तीर्त्वा) तरकर (सम्भूत्या) सम्भूति से (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य कार्य और कारण को साथ २ जानते हैं अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति और कार्य से कारण की सफलता समझते हैं । वह कारण के ज्ञान से मृत्यु को तरकर कार्य के ज्ञान से जीवन्मुक्त होजाते हैं । मृत्यु या विनाश क्या है ? कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना । बस जो यह समझ लेगा कि कार्य एक दिन अपने कारण में अवश्यमेव लीन होगा, उस को मृत्यु का भय क्या ? यद्वा, जो पुरुष आत्मा को विनाश और उत्पत्ति से (जो कार्य और कारण के धर्म हैं) पृथक् जानता है, वह मृत्यु को जीत कर मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पदार्थः—(हिरण्मयेन) स्वर्णमय (पात्रेण) आवरण से (सत्यस्य) सत्य का (मुखम्) मुंह (अपिहितम्) ढका हुआ है । (पूषन्) हे पूषन् !

(तत्) उस को (सत्यधर्माय) सत्य धर्म के लिये (दृष्टये) ज्ञान के लिये (अपावृणु) खोल दीजिये ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में स्वर्ण उपलक्षण है धनादि पदार्थों का अर्थात् धनादि के लोभ से मनुष्य सत्य धर्म का हनन कर बैठता है । वास्तव में परमात्मा ही जब मनुष्य के हृदय में सत्य का प्रकाश करते हैं, तब वह आवरण टूटता है अर्थात् यह धनादि तुच्छ पदार्थ उस को सत्य धर्म से विमुख नहीं कर सकते ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पदार्थः—(पूषन्) पुष्टिकारक ! (एकर्षे) एक ही सब में व्यापक ! (यम) सब को नियमन करने वाले ! (सूर्य) सब के प्रकाशक ! (प्राजापत्य) हृदयेश्वर ! (व्यूह) फैला (रश्मीन्) अपनी तेजोमय किरणों को (समूह) इकट्ठा कर (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेजोमय (कल्याणतमं, रूपम्) मङ्गलमय रूप है (ते) तेरा (तत्) वह रूप (पश्यामि) देखता हूं (यः) जो (असौ, पुरुषः) यह पुरुष है (सः) वह (अहम्) मैं (अस्मि) हूं । वीप्सा में द्विर्वचन है ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जीवात्मा परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे पूषन् ! सर्वान्तर्यामिन् ! प्रकाशमय ! हृदयेश्वर ! परमात्मन् ! आप कृपा करके अपनी विज्ञानमय किरणों का प्रकाश जो सर्वत्र फैला हुवा है इकट्ठा करके मेरे हृदय में फैलाइये अर्थात् मुझे इस योग्य बनाइये कि मैं आप के उस तेजोमय रूप के दर्शन कर सकूं और यह कहने का अधिकारी बन सकूं कि मैं आप के उस मङ्गलमय रूप को सर्वत्र देखता हूं और जो यह पुरुष है वह मैं हूं अर्थात् मुझ में वह स्थित है । तात्स्थ्योपाधि से ब्रह्मज्ञानी ऐसा कह सकता है ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७ ॥

पदार्थः—(वायुः) देहान्तरों में जाने वाला (अनिलम्) पार्थिवादि विकारों से रहित जीवात्मा (अमृतम्) अमर है (अथ) और (इदम्)

वह (शरीरम्) भौतिक शरीर (भस्मान्तम्) भस्म होने पर्यन्त है, ऐसा समझ कर, हे (क्रतो ! जीव ! तू (ओ३म्) प्रणव के वाच्यार्थ का (स्मर) स्मरण कर। (क्लिबे) बलप्राप्ति के लिये (स्मर) स्मरण कर (कृतम्) अपने किये हुये का (स्मर) स्मरण कर ॥ १७ ॥

भावार्थः—जिस समय मनुष्य का आत्मा इस शरीर से प्रयाण करता है, उस समय के लिये मनुष्य के प्रति वेद भगवान् का यह उपदेश है कि—

हे मनुष्य ! तू आत्मा को अमर और शरीर को भस्मान्त समझ कर शोक मत कर, किन्तु अपने किये हुवे को स्मरण करता हुवा आत्मिकबल की प्राप्ति के लिये ओ३म् जिस का वाचक है, उस जगदीश्वर का ध्यान कर ॥ १७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८॥

पदार्थः—हे (अग्ने) प्रकाशमय ! (देव) परमात्मन् ! आप (अस्मान्) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) शुभाऽशुभ कर्मों को (विद्वान्) जानते हैं। कृपा कर हम को (राये) इष्टप्राप्ति के लिये (सुपथा) शोभन मार्ग से (नय) चलाइये (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कीजिये। हम लोग (ते) आप की (भूयिष्ठाम्) बहुत बड़ी (नम-उक्तिम्) नम्रतापूर्वक स्तुति (विधेम) करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि—

हे विज्ञानमय ! अन्तर्यामी होने से आप हमारे समस्त शुभाऽशुभ कर्मों को जानते हैं, जब हमारा मन भी जो क्षणभर में आकाश और पाताल की ख़बर लाता है, आप का अतिक्रमण नहीं कर सकता, तब अन्य इन्द्रियों की तो कथा ही क्या है ? अतएव हे नाथ ! हम आप के शासन से किसी दशा में भी बाहर नहीं जा सकते। कृपा करके आप हम को ऐसे शोभनमार्ग से चलाइये कि जिस में चलने से आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक; इन तीनों प्रकार के दुःखों में से कोई दुःख हम को न सतावे और सारे कुटिलभाव और पापाचरणों से जो इन दुःखों के मूल हैं, हम को और इन से इन को सर्वदा पृथक् रखिये। इस लिये हम बार बार विनयपूर्वक आप की स्तुति करते हैं ॥ १८ ॥ समाप्तेयमुपनिषद् ॥

सूचना

पाठकवर्ग ! यह तलवकारोपनिषद् का सरल भाषानुवाद भी आप की सेवा में समर्पित किया जाता है । यह उपनिषद् सहस्त्रवर्त्मा सामवेद की एक शाखा है । इस का नाम "केन" इस लिये है कि "केन" शब्द से इस का आरम्भ होता है ॥

इस के तृतीय खण्ड में अलङ्कार की रीति पर ब्रह्म और अग्न्यादि देवों के संवादरूप आख्यायिका में ब्रह्म के महिमा का निरूपण किया गया है । यद्यपि ब्रह्म व्यापक होने से और अग्न्यादि देव जड़ होने से परस्पर संवाद या विवाद नहीं कर सकते, तथापि जैसे पञ्चतन्त्रादि नीति के ग्रन्थों में "कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते" पशु पक्षियों और वृक्षादि के संवादरूप कथाओं के मिष से बालकों के प्रति नीति का उपदेश किया गया है । इसी प्रकार हम लोगों के प्रति (जो ब्रह्मज्ञान के विषय में बालवत् हैं) महात्मा आचार्यों ने अलङ्कार की रीति पर बोधसौकर्य के लिये यह उपदेश किया है । जैसे नीतिशास्त्र में उन कल्पित आख्यानों से बुद्धिमान् लोग केवल उन का तात्पर्य (नतीजा) ग्रहण करते हैं, न कि शब्दार्थ पर प्रत्यय । इसी प्रकार यहां पर भी पाठकों को इस उपाख्यान के तात्पर्य पर दृष्टि रखनी चाहिये ॥

अनुवादकर्त्ता

ओ३म्

अथ केनोपनिषत् प्रारभ्यते

प्रथमः खण्डः

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

पदार्थः-(केन) किस से (प्रेषितम्) प्रेरित हुवा (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मक मन (इषितम्) अभीप्सित विषय को (पतति) पहुंचता है? (केन) किस से (युक्तः) नियुक्त हुवा (प्रथमः) शरीर में फैला हुवा (प्राणः) प्राण वायु (प्रैति) अपना व्यापार करता है? (केन) किस से (इषिताम्) प्रेरित की हुई (इमाम्) इस (वाचम्) वाणी को (वदन्ति) बोलते हैं? (कः उ) और कौन (देवः) अधिष्ठाता (चक्षुः श्रोत्रम्) आंख और कान को (युनक्ति) अपने २ काम में युक्त करता है? ॥ १ ॥

भावार्थः-यह श्रुति प्रश्नात्मक है। इस में यह पूछा गया है कि जो मन आदि इन्द्रियों को अपने २ कार्य में नियुक्त करता है अर्थात् जिस ने प्रत्येक इन्द्रिय का अर्थ नियत कर दिया है और यह नियम रक्खा है कि आंख से रूप का ही ग्रहण हो, रस का नहीं; वह इन का नियामक अधिष्ठाता कौन है? अगली श्रुति में इस का उत्तर दिया गया है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

पदार्थः-(यत्) जो (श्रोत्रस्य) कान का (श्रोत्रम्) [श्रवण शक्ति का नियामक होने से] कान है। एवं (मनसः) मन का (मनः) [प्रेरक होने से] मन है, तथा (वाचः) वाणी का (वाचम्) [ज्ञान का अधिकरण होने से] वाक् है, (सः उ) वही (प्राणस्य) प्राण का (प्राणः) [जीवनशक्ति देने से] प्राण है, (चक्षुषः) आंख का (चक्षुः) [दर्शनशक्ति देने से] चक्षु

है; उस को (अतिमुच्य) इन्द्रियादि के बन्धन से पृथक् जान कर (धीराः) धीरपुरुष (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—यद्यपि ये सब इन्द्रिय उसी की दी हुई शक्ति से अपने २ कार्य को करते हैं, तथापि वह स्वयं इन के बन्धन से पृथक् है। अर्थात् जीवात्मा के सदृश वह देखने के लिये आंख, सुनने के लिये कान और मनन करने के लिये मन की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु ये सब अपना २ काम करने में उस की अपेक्षा रखते हैं। इसी लिये वह कान का कान, एवं मन का मन इत्यादि है। अर्थात् उस की सहायता के बिना ये जड़ इन्द्रिय कुछ भी नहीं कर सकते। ऐसा जो धीरपुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं, वे ऐहिक बन्धनों से छूट कर मोक्ष के अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

पदार्थः—(तत्र) उस ब्रह्म में (चक्षुः) आंख (न गच्छति) नहीं जा सकती, एवं (वाग्) वाणी (न गच्छति) नहीं पहुंचती (नो मनः) न मन ही पहुंच सकता है। अतएव हम उस को (न विद्मः) नहीं जानते (न विजानीमः) और न विशेषतः जान सकते हैं, (यथा) जिस से (अनुशिष्यात्) शिष्यादि को उपदेश किया जावे। (तत्) वह ब्रह्म (विदितात्) ज्ञात वस्तु से (अन्यत् एव) और ही है (अथो) अनन्तर (अविदितात्) अज्ञात वस्तु से (अधि) ऊपर है। (इति) इस प्रकार (पूर्वेषाम्) पूर्वाचार्यों के वचन (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे प्रति (तत्) उस का (विचचक्षिरे) व्याख्यान करगये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में दिखला चुके हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय के सिवाय दूसरे इन्द्रिय के अर्थ को भी ग्रहण करने में असमर्थ है। फिर भला जो वस्तु अतीन्द्रिय है (किसी इन्द्रिय का भी विषय नहीं) उस में इन की गति क्योंकर हो सकती है ? हम संसार में जो कुछ भी ज्ञान उपलब्ध करते हैं, इन्द्रियों के द्वारा। फिर भला वह परिमित ज्ञान क्योंकर

उस असीम और अगाध ब्रह्म के जानने में पर्याप्त हो सकता है ? कदापि नहीं ; यही कारण है कि हम ब्रह्म को विशेष तो क्या सामान्य प्रकार से भी नहीं जान सकते और जब स्वयं अबोध हैं, तो दूसरों को क्या उपदेश कर सकते हैं? जो कुछ हमने जाना है, ब्रह्म उस से भिन्न है अर्थात् हमारे जानने के लिये अवशिष्ट है और सदा रहेगा। और जो कुछ हम ने नहीं जाना, वह उस के ऊपर है अर्थात् अज्ञात विषय में ब्रह्म प्रधान है। हमारा भावी ज्ञान अन्य अज्ञात विषयों से चाहे बढ़ जावे, परन्तु ब्रह्म की तो " कलां नार्हति षोडशीम् " सोलहवीं कला को भी नहीं पहुंच सकता। यद्वा वह ब्रह्म इस कार्यरूप जगत् से (जो प्रत्यक्ष होने से विदित है) भिन्न है। एवं कारणरूप प्रकृति से जो अव्याकृत होने से अविदित है) ऊपर है अर्थात् उस का अधिष्ठाता है। ब्रह्म का ऐसा ही निरूपण पूर्वाचार्यों से हमने सुना है ॥ ३ ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

पदार्थः-(यत्) जो (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितम्) प्रकाशित नहीं होता (येन) जिस से (वाग्) वाणी (अभ्युद्यते) प्रकाशित होती है (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) सब से बड़ा (त्वम्) तू (विद्धि) जान (यत् इदम्) [जो] इस वाणी से प्रकाशित शब्दादि का (उपासते) सेवन करते हैं (इदम् न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

भावार्थः-जो वाणी ब्रह्म से प्रकाशित हुई है, वह भला उस ब्रह्म को क्योंकर प्रकाशित कर सकती है ? यद्यपि महात्मा लोगों ने ब्रह्म का निरूपण और प्रवचन वाणी के द्वारा ही किया है, तथापि वाणी केवल शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बतलाती है, जो ब्रह्मज्ञान के लिये कुछ उपयोगी होता है। परन्तु विना प्रत्यगात्मदृष्टि के (जो ध्यान और समाधि द्वारा प्राप्त होती है) ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इस लिये वाणी उस को वर्णन करने में असमर्थ है। पण्डित बोपदेव जी ने भी भागवत के द्वितीय स्कन्ध में इसकी पुष्टि की है। यथा:-

"शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः" ॥

(अर्थ) जो लोग शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं, उन का यह (पन्थ) तरीक़ा है कि अर्थ शून्य (बोधवर्जित) नामों का पाठमात्र करते हैं। वे इस मायालय संसार में दासता में बन्धे हुवे शब्दों के चक्र में घूमते हैं। ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त नहीं होते ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

पदार्थः—मनुष्य (यत्) जिस को (मनसा) मन से (न मनुते) नहीं मनन करता, (येन) जिस से (मनः) मन को (मतम्) ज्ञात वा प्राप्त (आहुः) कहते हैं, (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वं) तू (विद्धि) जान (यत्, इदम्) जो इस मनोगम्य सुखादि की (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो मन स्वभाव से ही चञ्चल है, वह निश्चल ब्रह्म को कैसे जान सकता है? "न हि ध्रुवाणि अध्रुवैः प्राप्यन्ते" असार साधनों से सार पदार्थ की प्राप्ति असम्भव है। हां मन में जो मननात्मक शक्ति है, उस का नियोजक ब्रह्म अवश्य है। यदि उस की योजना न हो तो जड़ मन कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यत्) जिस को (चक्षुषा) आंख से (न पश्यति) नहीं देखता, (येन) जिस से (चक्षूंषि) आंखें (पश्यन्ति) देखती हैं (तद्, एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वं) तू (विद्धि) जान (यत् इदम्) जो इस चक्षुर्ग्राह्य रूप की (उपासते) सेवा करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

भावार्थः—आंख से हम रूप को देख सकते हैं। ब्रह्म अरूप है। फिर भला आंखें उसे क्योंकर दिखा सकती हैं? हां यह आंखें स्वयं उस की दी हुई शक्ति से देखने में समर्थ होती हैं। अन्यथा जड़ होने से स्वयं इन में देखने का सामर्थ्य कहां? ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

पदार्थः–(यत्) जिस को (श्रोत्रेण) कान से (न शृणोति) नहीं सुनता (येन) जिस से (इदम्) यह (श्रोत्रम्) कान (श्रुतम्) सुने गये हैं। (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वं) तू (विद्धि) जान। (यत् इदम्) जो इस श्रोत्रग्राह्य शब्द का (उपासते) सेवन करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थः–श्रोत्र से हम शब्द को सुन सकते हैं। जो ब्रह्म अशब्द है उस को भला श्रोत्र क्योंकर सुना सकते हैं, हां यह कान उस की दी हुई शक्ति से शब्द को सुनने में समर्थ होते हैं अन्यथा जड़ होने से स्वयं उन में सुनने का सामर्थ्य कहां ? ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

पदार्थः–(यत्) जो (प्राणेन) प्राण से (न, प्राणिति) चेष्टा नहीं करता (येन) जिस से (प्राणः) प्राण (प्रणीयते) चेष्टा करते हैं। (तद् एव) उस को ही (ब्रह्म) बड़ा (त्वं) तू (विद्धि) जान (यत् इदम्) जो इन श्वास प्रश्वास रूप वायु की (उपासते) उपासना करते हैं (इदम्, न) यह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थः–प्राण जो हमारे जीवन का आधार है वह ब्रह्म की ही धारणात्मिका शक्ति से सम्पन्न होकर चेष्टादि अपना व्यापार करता है। यदि ब्रह्म की शक्ति उस की परिचालक न हो तो जड़ प्राण कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव उस शक्ति का (जो इस प्राण को चला रही है) जो आधार है, वही हमारा उपास्य देव है, न कि यह जड़ प्राण जो श्वास और प्रश्वास रूप से आता और जाता है ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

—:o※o:—

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! (यदि) जो (त्वम्) तू (अस्य ब्रह्मणः) इस ब्रह्म का (यत्) जो (रूपम्) स्वरूप है उस को (सुवेद) अच्छे प्रकार जानता हूं (इति) ऐसा (मन्यसे) मानता है तो (नूनं) निश्चय करके (त्वं) तू (दभ्रम्, एव) थोड़ा ही (वेत्थ) जानता है। (अथ) और यदि (नु) निश्चय करके (यद्) जो (अस्य) इस ब्रह्म का (रूपम्) स्वरूप (देवेषु) पृथिव्यादि भूतों तथा चक्षुरादि इन्द्रियों में व्याप्त है, उस को (ते) तेरे लिये मीमांस्यम्, एव) विचार करने योग्य ही (मन्ये) मैं मानता हूं ॥ १ ॥

भावार्थः—रूप शब्द यहां चक्षुर्ग्राह्य विषय का वाचक नहीं है, किन्तु वस्तु की सत्ता का बोध कराने वाला है। जैसे ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप कहते हैं। सत्, चित्, आनन्द, इन तीनों में से एक भी चक्षु का विषय नहीं, परन्तु यह तीनों मिल कर ब्रह्म का स्वरूप कहे गये हैं। इसी प्रकार यहां भी रूप शब्द से ब्रह्म की सत्ता वा महिमा अभिधेय है। उस ब्रह्मतत्त्व को (जो केवल [अधिदैवत] जड़ प्रकृति का ही अधिष्ठाता नहीं, किन्तु [अध्यात्म] चेतन जीवात्माओं का भी नियन्ता है) जो पुरुष "मैं अच्छे प्रकार जानता हूं" ऐसा मानता है, वह उसे कुछ भी नहीं जान सकता। हां जो उसे श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य जान कर उस के श्रवण, मनन और निदिध्यासन में तत्पर होता है, वह उसे जान सकता है ॥ १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥ १० ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (सुवेद, इति, न, मन्ये) ब्रह्म को अच्छे प्रकार जानता हूं, ऐसा नहीं मानता (न वेद इति) बिलकुल नहीं जानता, ऐसा भी (नो) नहीं मानता (वेद, च) जानता भी हूं, पर (नो न वेदेति, वेद च) नहीं जानता वा जानता हूं, ऐसा नहीं मानता (यः) जो पुरुष (नः) हम में से (तद्, वेद) ऐसा जानता है (तद्, वेद) वही उस को जानता है ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्य जिस विषय को अच्छे प्रकार जान लेता है, उस में फिर उस की जिज्ञासा नहीं रहती और जिस विषय को बिलकुल नहीं जानता, उस में भी जिज्ञासा नहीं होती। जब कुछ जानता है और कुछ

नहीं जानता, तब उसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दृष्टान्त के लिये त्रैराशिक के एक प्रश्न को ले लीजिये—जिस में दो राशि दी गई हैं और तीसरी राशि पूछी गई है। जिस को गणित के द्वारा तीसरी राशि ज्ञात होगई, उस की क्रिया की समाप्ति होगई। और जिस को पहिली दो राशि भी ज्ञात नहीं हैं, उस की क्रिया का अभी आरम्भ भी नहीं हुवा और जिस को २ राशि का तो ज्ञान है परन्तु तीसरी अविदित है, वह उस के जानने के लिये-यथाशक्य परिश्रम करता है। जब हम किसी पदार्थ के विषय में यह समझ लेते हैं कि हमें उस का पूर्ण ज्ञान होगया तब हमारी उस के प्रति जिज्ञासा नहीं रहती और जिज्ञासा के अभाव में हम उस के विशेष ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। इसी प्रकार उस के विषय में कुछ न जानना भी तद्विषयक हमारी प्रवृत्ति का विघातक है। इस से सिद्ध है कि किसी विषय का सामान्य ज्ञान ही हमें उस के विशेष ज्ञान के लिये प्रवृत्त करता है। जब सांसारिक सान्त पदार्थों के विषय में भी हमारा ऐसा अभिमान या ज्ञान उन के विशेष ज्ञान का बाधक होता है, तब उस अगाध और अनन्त ब्रह्म को (जिस के विषय में बड़े २ योगी, तपस्वी, ध्यानशील, महर्षिगण भी नेति २ कहते आये हैं) ऐसा समझना कहां तक ठीक हो सक्ता है? इस को सुधी पाठक विचारेंगे॥२॥

यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥३॥११॥

पदार्थः—(यस्य) जिस का (अमतम्) कुछ मत नहीं अर्थात् मन निर्विकल्प है (तस्य) उस का (मतम्) ब्रह्म जाना हुवा है और (यस्य) जिस का (मतम्) मत है अर्थात् मन सङ्कल्प विकल्प की तरङ्गों में घूम रहा है (सः) वह (न वेद) ब्रह्म को नहीं जानता। वह ब्रह्म (विजानताम्) जानने वालों को (अविज्ञातम्) अविज्ञात है (अविजानताम्) न जानने वालों को (विज्ञातम्) विज्ञात है॥३॥

भावार्थः—"मनसा यदवधार्यते तन्मतम्" जो मन से अवधारण किया जाय, उस को मत कहते हैं। मन भौतिक एवं एकदेशीय होने से अपने समान ही प्राकृतिक और परिछिन्न पदार्थों का ही ग्रहण कर सकता है, ब्रह्म विभु और अनन्त है, फिर भला यह उस का अवधारण कैसे कर सकता है? इस

लिये जो पुरुष ब्रह्म को मन से अनवधारित मानता है, वही उस को जानता है। जब तक मनुष्य के मन में सङ्कल्प विकल्प की तरङ्गें उठती हैं, तब तक वह मत के आवर्त में घूमता है। इस अनवस्थित दशा में वह ब्रह्म को नहीं जान सकता। हां जब इस का मन बाह्य विषयों से उपरत होकर अन्तरात्मा में लीन हो जाता है तब इस की सारी मानसिक कल्पनायें (जिन को यह अपना मत समझता है) शिथिल एवं शान्त हो जाती हैं। उस समय आत्मिक ज्योति का प्रकाश होता है, जिस में यह केवल ब्रह्म को देखता है। जिस पुरुष को यह अभिमान है कि "मैं ब्रह्म को जानता हूं" वह उसे कुछ भी नहीं जानता क्योंकि जो जिस विषय को जितना कम जानता है, उतना ही अधिक वह उस विषय का अपने को ज्ञाता समझता है। राजर्षिप्रवर भर्तृहरि जी क्या ठीक कहते हैं:-

"यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोस्मीति ज्वरइव मदोमे व्यपगतः॥"॥

अर्थ जब मैं कुछ जानता था, हस्ती के समान मदान्ध था और अपने को सर्वज्ञ समझता था, जब कुछ२ विद्वानों से मैंने सीखा तब "मैं मूर्ख हूं" यह निश्चय हो गया और वह सारा मद ज्वर के समान उतर गया। जब सांसारिक विषयों का विशेष ज्ञान हम को निरभिमान बना देता है, तब ब्रह्मज्ञान का (जिस की कोई सीमा नहीं) अभिमान करने वाले कहां तक उस को जान सकते हैं? ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ ४॥ १२॥

पदार्थः-(प्रतिबोधविदितम्) इन्द्रियों से जो विषयों का ज्ञान होता है, उसे बोध कहते हैं और इन्द्रियों को विषयों से रोककर आत्मा में बुद्धि की वृत्तियों को लगाने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रतिबोध कहते हैं। उस प्रतिबोध से जाना हुआ (मतम्) जो आत्मतत्व है, बस वे (हि)

निश्चय करके (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विन्दते) प्राप्त होता है। (आत्मना) आत्मा से (वीर्यम्) बल को (विन्दते) प्राप्त होता है (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) मोक्ष को (विन्दते) पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—पूर्वार्द्ध का आशय स्पष्ट है। उत्तरार्द्ध में दो बातें कही गई हैं। एक आत्मा से बल की प्राप्ति। दूसरा विद्या से मोक्ष की प्राप्ति। जब तक मनुष्य को अपने आत्मा का ज्ञान नहीं होता, वह सांसारिक बल से सम्पन्न भी अपने को महानिर्बल समझता है। निर्बल कौन है? जिस को भय है। शत्रु से वह डरता है, रोग उसे चैन नहीं लेने देते, बुढ़ापा अलग अपनी भयङ्कर सूरत दिखा रहा है और मृत्यु का तो नाम ही सुनकर कांपने लगता है। उधर ज्ञातिभय, वित्तभय, मानभय, स्त्रीभय आदि अलग २ उस पर आक्रमण कर रहे हैं। भला जो पुरुष चारों ओर से इस प्रकार भयाक्रान्त हो, वह कभी अपने को बलवान् बना सकता है? जब तक मनुष्य को अपने आत्मा का ज्ञान नहीं होता तभी तक यह संपूर्ण भय अपना २ प्रभाव दिखाते हैं। आत्मज्ञान के होते ही यह सारे भय ऐसे विलीन हो जाते हैं, जैसे सूर्य के निकलते ही अन्धकार। उस समय मनुष्य को वह महान् बल प्राप्त होता है, जिस के सामने संसार के सारे शोक मोह परास्त हो जाते हैं॥

अब रही विद्या से मोक्ष की प्राप्ति। महर्षि गोतम अपने न्यायदर्शन में लिखते हैं। यथाः—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" अर्थ—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इन पांचों के उत्तरोत्तर क्षीण होने से अनन्तर जो दुःख है, उस के अभाव से मोक्ष होता है। उस दुःख का कारण जन्म है, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोष का कारण मिथ्याज्ञान है। अत मोक्ष के लिये सब से पहिले मिथ्याज्ञान के दूर करने की आवश्यकता है, जो कि बन्ध का अनन्य कारण है। इस में किसी को भी सन्देह नहीं होसक्ता कि मिथ्याज्ञान की औषधि केवल यथार्थ ज्ञान है, जो कि विद्या का पर्याय होने से दूसरा नाम है। इस से सिद्ध है कि विद्या ही मोक्ष को देने वाली है ॥ ४ ॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥१३

पदार्थः-(चेत्) यदि (इह) यहां पर (अवेदीत्) जाना गया [तब तो] (सत्यम्) अमृत (अस्ति) है (अथ) और (चेत्) यदि (इह) यहां पर (न) नहीं (अवेदीत्) जाना गया तो (महती) बड़ी (विनष्टिः) हानि है । (धीराः) धीर लोग (भूतेषु भूतेषु) चराचर जगत् में (विचिन्त्य) विचार कर (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-सत्य उस को कहते हैं जो सर्वत्र और सर्वकाल में एकरस रहता है। अर्थात् जिस में देश और काल के भेद से कोई विकार या परिणाम नहीं हो सकता । ऐसा केवल आत्मा है, तद्भिन्न सारा जगत् विनाश धर्म वाला होने से असत्य है अर्थात् देश और काल के भेद से विकारी और परिणामी होता रहता है । इस विनश्वर जगत् में जिन को आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, वह शरीरादि के विनष्ट होने पर भी आत्मा की सत्यता में सन्देह नहीं करते, किन्तु विनाश से (जो जगत् का धर्म है) उस को पृथक् जानते हैं । विपरीत इस के, जो आत्मतत्त्व को नहीं जानते, वह शरीरादि के नाश में अपनी ही विनष्टि समझ लेते हैं । अतएव धीर लोग सम्पूर्ण पदार्थों में आत्मा को ही सत्य समझ कर और उस के प्रभाव से प्राकृतिक बन्धनों को तोड़कर अमृत हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

—:०:—

अथ तृतीयः खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥१॥१४॥

पदार्थः-(ह) निस्सन्देह (ब्रह्म) परमात्मा (देवेभ्यः) अग्न्यादि देवताओं से (विजिग्ये) जीत गया । (तस्य ब्रह्मणः) उस ब्रह्म के (विजये) जीत जाने पर (देवाः) उक्त देव (अमहीयन्त) बढ़ने लगे, (ते) वे देव (अस्माकम् एव) हमारी ही (अयम्) यह (विजयः) जीत है, (अस्माकम्

एव) हमारा ही (अयम्) यह (महिमा) महत्व है (इति) ऐसा (ऐक्षन्त) मानने लगे ॥ १ ॥

भावार्थः—कारणरूप अग्न्यादि तत्त्व और उन के कार्यरूप चक्षुरादि इन्द्रिय देवसंज्ञक हैं। यह सब जड़ होने पर भी ब्रह्म की दी हुई शक्ति (सहायता) से अपना २ काम कर रहे हैं। कभी २ इन को अभिमान उत्पन्न हो जाता है कि हम स्वतन्त्र हैं। हम ही संसार के सब कार्य सिद्ध करते हैं। इस लिये यह सब हमारी ही महिमा है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्योह प्रादुर्बभूव,
तन्न व्यजानन्त, किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥ १५ ॥

पदार्थः - (तत्) वह ब्रह्म (एषाम्) इन के विचेष्टित को (विजज्ञौ) जान गया (ह) निश्चय (तेभ्यः) उन्हीं में से (प्रादुर्बभूव) प्रकट हुवा। उन्हों ने (इदम्) यह (यक्षम्) प्रकाशपुञ्ज (किम्) कौन है ? (इति) इस प्रकार (तत्) उस को (न व्यजानन्त) नहीं जाना ॥ २ ॥

भावार्थः—ब्रह्म उन का अभिमान दूर करने के लिये यक्षरूप से प्रकट हुवा, अर्थात् एक प्रकाश उत्पन्न हुवा, जिस को वे न जान सके कि यह क्या है ? यक्ष शब्द का अर्थ पूजनीयतम है ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवन्, जातवेद ! एतद्विजानीहि,
किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥ ३ ॥ १६ ॥

पदार्थः—(ते) वे सब देवता (अग्निम्) अग्नि से (अब्रुवन्) बोले कि (जातवेदः) हे अग्ने ! (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किम् इति) कौन है ? (एतत्) इस को (विजानीहि) जान। अग्नि ने कहा कि (तथेति) बहुत अच्छा ॥ ३ ॥

भावार्थः—वे सब देवता उस प्रकाश को देख कर चकित हुवे, सब ने मिलकर अग्नि से प्रार्थना की कि तू इस को जान कि यह क्या है ? ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । अग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥१७॥

पदार्थः—अग्नि (तत) उस ब्रह्म के (अभ्यद्रवत) सामने गया, (तम्) उस अग्नि से (अभ्यवदत्) ब्रह्म ने कहा (कोऽसीति) तू कौन है ? (अब्रवीत्) अग्नि ने कहा —(अग्निः अहम् अस्मि इति) कि मैं अग्नि हूं (जातवेदाः वै अहम् अस्मि इति) कि मैं जातवेदा हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ.—ब्रह्म ने जब अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? तब उस ने साभिमान कहा कि मैं अग्नि हूं, मैं जातवेदा हूं अर्थात् मुझ से ही यह ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है । यदि मैं न हूं तो जगत् अन्धकारमय होजावे । फिर किसी को किसी पदार्थ का ज्ञान ही न हो ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयम् ।
यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(तस्मिन् त्वयि) उस तुझ में (किम्) क्या (वीर्यमिति) पराक्रम है ? (यत् इदम्) जो कुछ यह (पृथिव्याम्) पृथिवी में है (अपि) निस्सन्देह (इदम् सर्वम्) इस सब को (दहेयम्) जला सकता हूं (इति) मुझ में यह सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

भावार्थः—तब ब्रह्म ने अग्नि से कहा कि उस तुझ में क्या बल है ? अग्नि ने कहा कि यह जो कुछ पृथ्वी में है, इस सब को जला सकता हूं ॥५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स ततएव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस अग्नि के लिये ब्रह्म ने (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और कहा कि (एतत्) इस को दह इति) जलादे । अग्नि (सर्वजवेन) सारे वेग से (तत्) उस तृण के (उपप्रेयाय) समीप पहुंचा परन्तु (तत्) उस को (दग्धुम्) जलाने को (न शशाक) समर्थ न हुआ । (सः) वह अग्नि (तत एव) उस कर्म से ही (निववृते) निवृत्त हुआ और अन्य देवों से कहने लगा कि (यत् एतत् यक्षमिति) जो यह यक्ष है (एतत्) इस के (विज्ञातुम्) जानने को (न अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुआ ॥ ६ ॥

भावार्थः—जब अग्नि से वह तृण नहीं जल सका गया, तब लज्जित होकर कहता है कि मैं इस के जानने में असमर्थ हूं अर्थात् इस के सामने तृण को भी जलाने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है ॥

उक्त संवाद का तात्पर्य यही है कि अग्नि में जो जलाने की शक्ति है वह उसी ब्रह्म की योजना से है। उस की सत्ता के बिना यह जड़ होने से कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि। किमेतद्यक्षमिति ॥७॥२०॥

पदार्थः—(अथ) इस के अनन्तर वे सब देव (वायुम्) वायु से (अब्रुवन्) बोले—(वायो) हे वायु ! तू (एतत्) यह (यक्षम्) यक्ष (किम् इति) कौन है ? (एतत्) इस को (विजानीहि) ज्ञात कर ॥ ७ ॥

भावार्थः—जब अग्नि हार कर बैठ रहा, तब सब देवताओं ने वायु को अग्नि से अधिक बलिष्ठ समझ प्रेरित किया ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहम-स्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥ २१ ॥

पदार्थः—वायु (तत्) उस ब्रह्म के (अभ्यद्रवत्) सामने गया (तम्) उस वायु से (अभ्यवदत्) ब्रह्म ने कहा कि (कः असीति) तू कौन है ? (अब्रवीत्) वायु बोला कि (अहम्) मैं (वायुः) वेगशील (अस्मीति) हूं। (अहम्) मैं (मातरिश्वा) अन्तरिक्षगामी (अस्मीति) हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः—वायु ने भी ब्रह्म के पूछने पर साभिमान कहा कि मैं अत्यन्त वेगवान् होने से वायु हूं और अन्तरिक्ष में विचरने से मातरिश्वा हूं ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमा-ददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(तस्मिन् त्वयि) उस तुझ में (किम्) क्या (वीर्यम्) बल है ? (यत् इदम्) जो कुछ, यह (पृथिव्याम्) पृथिवी में है (अपि) निश्चय (इदम् सर्वम्) इस सब को (आददीयम्) उठा सकता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थः तब ब्रह्म ने वायु से कहा कि उस तुझ में क्या बल है ? वायु ने कहा—यह जो कुछ पृथिवी में है, इस सब को मैं उठा सकता हूं ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥ २३ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस वायु के लिये ब्रह्म ने (तृणम्) एक तिनका (निदधौ) धर दिया और कहा कि (एतत्) इस को (आदत्स्व, इति) उठा दे वा उड़ा दे । वायु (सर्वजवेन) सारे वेग से (तत्) उस तृण को (उपप्रेयाय) समीप पहुंचा परन्तु (तत्) उस को (आदातुम्) उठाने को (न शशाक) समर्थ न हुवा । (सः) वह वायु (तत एव) उस कर्म से ही (निववृते) निवृत्त हुवा और अन्य देवों से कहने लगा कि (यत्, एतत्, यक्षमिति) जो यह यक्ष है (एतत्) इस के (विज्ञातुम्) जानने को (न अशकम्) मैं समर्थ नहीं हुवा ॥ १० ॥

भावार्थ—जब वायु से वह तृण नहीं उठाया गया, तब लज्जित होकर कहता है कि मैं इस के जानने में असमर्थ हूं अर्थात् इस के सामने तृण को भी उठाने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति, तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥ २४ ॥

पदार्थः—(अथ) इस के अनन्तर वे सब देव (इन्द्रम्) सूर्य वा जीवात्मा से (अब्रुवन्) बोले—हे (मघवन्) सूर्य ! वा जीवात्मन् ! तू (एतत्, यक्षम्, किमिति) यह यक्ष कौन है? (एतत्) इस को (विजानीहि) जान । इन्द्र (तथेति) तथास्तु कहकर (तद्) उस ब्रह्म के (अभ्यद्रवत्) सम्मुख गया (तस्मात्) उस इन्द्र से (तिरोदधे) वह अन्तर्धान होगया ॥ ११ ॥

भावार्थः—"इरामन्नं ददाति दधातीति वेन्द्रः" 'इरा' नाम अन्न का है, उस को जो देवे वा धारण करे, उस को इन्द्र कहते हैं, सो ऐसा सूर्य है । तथा इन्द्र नाम जीवात्मा का भी है । इसी इन्द्र शब्द से " इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" इस पाणिनीयसूत्रानुसार इन्द्रिय शब्द सिद्ध होता है । यथा—"इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्" इन्द्र जीवात्मा के चिह्न वा साधन को इन्द्रिय कहते हैं । जब कारणरूप से अग्नि और वायु

और कार्यरूप से चक्षु और त्वगिन्द्रिय उस यक्षरूप तेजःपुञ्ज को न जान सके, तब सब देवताओं से मिलकर सूर्य वा जीवात्मा से कहा कि तू इस को जान। इन्द्र तथास्तु कहकर उन तेजःपुञ्ज यक्ष के पास गया, परन्तु उस की परीक्षा लेने के लिये कि वह क्या उपाय करता है? वह तेज अन्तर्हित होगया॥११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(सः) वह इन्द्र (तस्मिन्, एव, आकाशे) उस ही हृदयमन्दिर में (बहुशोभमानाम्) बड़ी शोभा वाली (हैमवतीम्) प्रकाशयुक्त (उमाम्) उमा नाम्नी (स्त्रियम्) स्त्री के समीप (आजगाम) आया। (ह) स्पष्ट रीति पर (ताम्) उस से (उवाच) बोला कि (एतत्, यक्षम्, किमिति) यह यक्ष कौन है? ॥ १२ ॥

भावार्थः—जीवात्मा ने जब ब्रह्म का प्रकाश नहीं देखा, किन्तु अपने को अविद्यान्धकार में पाया, तब यह उस बुद्धि की शरण में पहुंचा, जो उमा नाम्नी ब्रह्मविद्या से उत्पन्न होती है। जिस के प्रकाश होते ही हृदय का सारा अन्धकार विलीन हो जाता है और जिस की सहायता के विना यह मन आदि साधनों के होते हुवे भी ब्रह्म को नहीं जान सकता। जैसे कि सूर्य या अग्नि की सहायता के विना चक्षुरादि इन्द्रियों के होते हुवे भी कुछ नहीं देख सकता। जीवात्मा उस बुद्धि के पास जाकर उस से पूछता है कि यह यक्ष कौन है? ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

—=*=—

अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥ २६ ॥

पदार्थः—(सा) वह उमानाम्नी बुद्धि (ब्रह्म, इति) ब्रह्म है, यह (ह) प्रसिद्ध (उवाच) बोली—(वै) निश्चय (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (एतत्) इस (विजये) जीत में (महीयध्वम्) महत्व को प्राप्त होओ। (ततः) उस बुद्धि के उपदेश से जीवात्मा ने ब्रह्म को (विदाञ्चकार) जाना ॥ १ ॥

भावार्थः—उस बुद्धि के द्वारा जीवात्मा ने उस यक्ष को (जिस को अग्नि और वायु न जान सके थे) पहचान कर देवताओं से कहा कि यही ब्रह्म है, इसी के महत्व में तुम्हारी महिमा है, अर्थात् इसी की दी हुई शक्ति से तुम सब अपना २ काम करते हो। बस यह समझ कर अभिमान त्याग दो और इसी की बड़ाई में अपनी बड़ाई समझो ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्
यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते
ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(यत्) जो (अग्निर्वायुरिन्द्रः) अग्नि, वायु और सूर्य अथवा चक्षु, त्वक् और जीवात्मा (ते) यह तीन (एतत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीप (पस्पर्शुः) स्पर्श करने वाले हुवे (हि) निश्चय (ते) उक्त तीनों ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः) सब से पहले (ब्रह्म इति) "ब्रह्म है" ऐसा (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इस कारण (एते देवाः) यह तीनों देव (अन्यान् देवान्) अन्य देवों का उल्लङ्घन कर (अतितराम् इव) प्रशस्त हुवे ॥ २ ॥

भावार्थः—आधिदैविक देवों में अग्नि, वायु और सूर्य और आध्यात्मिक देवों में चक्षु, त्वक् और जीवात्मा; इसी लिये श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ माने जाते हैं कि इन के द्वारा ब्रह्म की महिमा का जिज्ञासु पुरुषों को विशेष परिचय मिलता है ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं
पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥ २८ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) जिस कारण (इन्द्रः) सूर्य वा जीवात्मा (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्ठम्) अति समीप (पस्पर्श) स्पर्श करने वाला हुवा (सः हि) और उस ही ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः) सब से पहले (विदाञ्चकार) जाना (तस्मात्) इस कारण (सः) वह इन्द्र (अन्यान् देवान्) अन्य देवों को अतिक्रमण कर, (अतितराम् इव) प्रशस्त हुवा ॥ ३ ॥

भावार्थः—आधिदैविक त्रिक में भी सूर्य इस लिये प्रशस्त माना गया है कि वह इस जगत् में ब्रह्म के महत्त्व का सब से बड़ा निदर्शन (नमूना) है। इसी प्रकार आध्यात्मिक त्रिक में जीवात्मा इस लिये उत्कृष्ट माना गया है कि इस संसार में ब्रह्मज्ञान का एकमात्र अधिकरण यही है ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३
इतीति न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(तस्य) उस ब्रह्म का (एषः) यह (आदेशः) अलङ्कारयुक्त उपदेश है (यत्) जो (एतत्) यह (विद्युतः) बिजली के (आ) समान (व्यद्युतत्) कभी चमक जाता है, कभी छिप जाता है। (इति) तथा (आ न्यमीमिषद्) नेत्र के समान खुलता वा बन्द होजाता है (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवताविषयक ब्रह्म का उपाख्यान है ॥ ४ ॥

भावार्थः पूर्व खण्ड में जो ब्रह्म का यक्ष रूप से औपचारिक वर्णन किया गया है, वह बिजली अथवा निमेष के समान है, जो कभी प्रादुर्भूत और कभी तिरोभूत होजाते हैं और इसी को अधिदैवत कहते हैं ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मं, यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन
चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ५ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म कहते हैं, (यत) जो (एतत्) इस ब्रह्म के प्रति (मनः) मन (गच्छतीव) चलता हुआ सा जान पड़ता है (च) और (अनेन) इस मन से उत्थित (सङ्कल्पः) सङ्कल्प (अभीक्ष्णम्) वारंवार (एतत्) इस ब्रह्म का (उपस्मरति) स्मरण करता है ५॥

भावार्थः—जब मनुष्य अपनी बाह्य वृत्तियों को रोक कर अन्तरात्मा में लीन कर देता है और उस मन को (जिस की शम दमादि साधनों से चञ्चलता नष्ट करदी गई है) केवल ब्रह्म के ही चिन्तन और स्मरण में लगा देता है, तब वह प्रत्यगात्मदर्शी कहलाता है और इसी को अध्यात्म कहते हैं ॥५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं
वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(तत् ह) वह ब्रह्म (तद्वनम्) योगिजनसेव्य होने से (नाम) प्रसिद्ध (तद्वनम्) तद्वन कहलाता है (तत्) वह (इति) इस प्रकार (उपासितव्यम्) उपासनीय है (सः यः) सो जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (एनम्) उस को (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अभि संवाञ्छन्ति) चाहना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य, ऋषि, देव; इन सब का केवल ब्रह्म ही उपास्य है, जो लोग अनन्यभाव से उस की उपासना करते हैं, वे जगत् में सब के माननीय और कमनीय होते हैं ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७॥ ३२॥

पदार्थः—हे शिष्य ! तुमने कहा था कि (भोः) आचार्य ! (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि इति) कहिये [सो] (ते) तेरे लिये (उपनिषद्) ब्रह्म विद्या (उक्ता) कही गई (वाव) निश्चय (ते) तेरे प्रति (ब्राह्मीम् उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या सम्बन्धिनी उपनिषद् को (अब्रूम) हमने कह दिया ॥ ७ ॥

भावार्थः—शिष्य ने आचार्य से यह प्रश्न किया था कि ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये, उस के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि तुम्हारी जिज्ञासानुसार ब्रह्मविद्या सम्यक् कहदी गई । अब क्या चाहते हो ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(तस्यै) उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये (तपः) द्वन्द्वसहिष्णुता (दमः) मन का निग्रह (कर्म) वैदिक कर्मानुष्ठान (इति) यह तीन मुख्य साधन हैं और इन्हीं में (वेदाः) चारों वेद (सर्वाङ्गानि) छहों अङ्ग, इन के (आयतनम्) मूल (सत्यम्) सत्य की भी (प्रतिष्ठा) स्थिति हैं ॥८॥

भावार्थः—ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये तप, दम और कर्म; यह तीन मुख्य साधन हैं । अन्य स्वाध्यायादि इन के उपयोगी होने से तटस्थ साधन हैं॥८॥

यो वा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते
स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥९॥३४॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (वै) निश्चय कर (एताम्) इस ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, वह (पाप्मानम्) चिरकाल से सञ्चित पापवासनाओं को (अपहत्य) नष्ट कर (अनन्ते) जिस का अन्त नहीं ऐसे (ज्येये) सब से बड़े (स्वर्गे, लोके) आनन्दमय पद में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—जो पुरुष इस ब्रह्मविद्या को जानता है अर्थात् उक्त साधनों के अनुष्ठान से जिस की वृत्ति ब्रह्म में लीन होगई है, वह दीर्घकालसञ्चित पापमय वासनाओं को छिन्नभिन्न करके ब्रह्म के अनामय पद में प्रतिष्ठित होता है। द्विर्वचन यहां पर ग्रन्थसमाप्ति का द्योतक है ॥ ९ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

—※—

समाप्ता चेयमुपनिषद्

———

ओ३म्

कठोपनिषद् की भूमिका

यह उपनिषद् यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। इस में अलङ्कार की रीति पर मृत्यु और नचिकेता के संवाद द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। इस पर बहुत से लोग यह शङ्का करते हैं कि मृत्यु, जिस के पास नचिकेता को उस के पिता ने भेजा था, वास्तव में कोई ऋषि था या मृत्यु को ही एक व्यक्ति कल्पना कर लिया गया है ? जहां तक इस विषय में विचार किया गया है वहां तक यही माना गया कि मृत्यु कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। मृत्यु को ही अलङ्कार की रीति पर मनुष्य मानकर कल्पित आख्यान द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है क्योंकि इस उपनिषद् में कहीं मृत्यु को यम और कहीं अन्तक नाम से निर्देश किया गया है और यह असमञ्जस विदित होता है कि ऋषि का नाम मृत्यु हो और फिर वह यमादि दूसरे नामों से भी (जो मृत्यु के पर्याय हैं) प्रसिद्ध हो। इस के अतिरिक्त १२ वें श्लोक में नचिकेता स्पष्ट कहता है कि " स्वर्ग में कोई भय नहीं है, न वहां तू है और न बुढ़ापे का डर " इस से स्पष्ट अवगत होता है कि नचिकेता का सङ्केत मृत्यु की ओर है, न कि मृत्यु नाम वाले किसी व्यक्ति विशेष की ओर। परन्तु यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नचिकेता के पिता का यह कहना कि मैं तुझे मृत्यु को दूंगा और फिर नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और तीन दिन रात उस के द्वार पर भूखे पड़े रहना, फिर मृत्यु ने आकर उस का आतिथ्य करना और तीन दिन तक उस के द्वार पर उपवास करने के प्रायश्चित्त में तीन वर उस को देना इत्यादि। इन सब बातों का क्या अभिप्राय है ? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मृत्यु को जब एक व्यक्ति मान लिया गया तो यह भी आवश्यक हुआ कि उस का इस रीति पर वर्णन किया जावे कि जिस से पढ़ने वाले को यह प्रतीत हो कि मृत्यु वास्तव में कोई मनुष्य है और वह मनुष्यों के समान घर में रहता है और कुटुम्ब भी रखता है इत्यादि॥

दूसरी कल्पना इस उपनिषद् की यह भी हो सकती है कि न वाजश्रवस

कोई व्यक्ति है, न नचिकेता उस का पुत्र है और न मृत्यु ही कोई ऋषि है किन्तु यह सारी उपनिषद् एक अलङ्कार है। "वाजश्रवस" एक यौगिक शब्द है जो "वाज" और "श्रवस्" इन दो शब्दों से मिल कर बना है। वाज नाम यज्ञ का है और श्रवस् कीर्त्ति को कहते हैं। यज्ञ ही जिस की कीर्त्ति हो अर्थात् जो यज्ञ के द्वारा प्रसिद्ध हुवा हो, उसे "वाजश्रवस्" कहते हैं। यहां वाजश्रवस् से अभिप्राय उस मन्तव्य से है जिस के अनुसार केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड ही मोक्ष का देने वाला है। इसी प्रकार "नचिकेता" शब्द का अर्थ है "न जानने वाला" अर्थात् संदिग्ध या जिज्ञासु। इस दशा में इस उपनिषद् की सङ्गति इस प्रकार होगी कि मनुष्य केवल कर्मकाण्ड से मोक्ष का भागी कदापि नहीं हो सकता। चाहे वह कितना ही बड़ा भारी यज्ञ क्यों न करे, जब तक उस को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक उस को सच्ची शान्ति नहीं मिलती। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञादि कर्म अनावश्यक और व्यर्थ हैं, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा दूसरी कोटि में हैं। पहिले मनुष्य भ्रान्ति में कर्म को ही साक्षात् मोक्ष का साधन समझता है, अन्त में जाकर जब उस को ज्ञान होता है तब वह कर्म की अवरता और ज्ञान की परता को अनुभव करता है और इस लिये इस विचार को यज्ञ का पुत्र कह सकते हैं क्योंकि यज्ञादि कर्म करने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इस विचार को मृत्यु के पास भेजने का आशय यही है कि जो लोग कर्मकाण्ड ही को सर्वोपरि मानते हैं वे ऐसे विचार से (जिस में ज्ञान का उत्कर्ष पाया जावे) अप्रसन्न होते हैं और चाहते हैं कि ऐसा विचार उत्पन्न ही न हो और यदि कथञ्चित् उत्पन्न हो जावे तो तुरन्त मृतप्राय हो जावे॥

नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और मृत्यु का उस को उपदेश करना वास्तव में सिवाय इस के और कुछ भी नहीं कि मनुष्य जब यह अनुभव कर लेता है कि असार संसार और उस के सब ठाठ सामान सुख सम्पत्ति और विषय भोगों की वासना सब जलतरङ्गवत् अस्थिर हैं, एक दिन अवश्य इस संसार से प्रस्थान करना है और यह सब ठाठ बाट छोड़ जाना है और यह भी कोई नहीं जान सकता कि किस समय मौत का वारण्ट आ जावे, केवल आत्मा ही अजर अमर है, यदि नित्य आत्मा इन अनित्य पदार्थों के मोह में फंसा रहा और अपनी वास्तविक उन्नति और भलाई के लिये उस ने कुछ

यत्न न किया तो यह जीवन ही व्यर्थ हुवा । एतादृश संस्कारों के उदय होने पर ही इन को आत्मतत्त्व की प्रबल जिज्ञासा होती है, उस समय वह संसार के समस्त सुखों को आत्मज्ञान के सम्मुख तुच्छ समझता है ॥

नचिकेता ने जो तीन वर मांगे वे ऐसे गम्भीर हैं, जिस में मनुष्य का सारा कर्त्तव्य आजाता है । पहिला वर यह है कि मेरा पिता मुझ से प्रसन्न रहे । इस से प्रकट होता है कि माता पिता और वृद्धों की सेवा मनुष्य का पहिला कर्त्तव्य है । दूसरा वर यह है कि स्वर्ग को दिलाने वाला अग्नि कौन है ? जिस के उत्तर में मृत्यु ने कहा है कि तीनों आश्रमों के धर्म का ठीक २ पालन करना ही स्वर्ग का देने वाला अग्नि है । तीसरा वर आत्मज्ञान के विषय में है, जिस को पाकर मनुष्य के सारे शोक, मोह और भय निवृत्त हो जाते हैं और वह परमानन्द का अनुभव करता है ॥

सारांश यह है कि जिस मनुष्य को मृत्यु का निश्चय हो जाता है कि एक दिन अवश्य इस संसार को छोड़ना है वह अपने कर्त्तव्य पालन में कटिबद्ध हो जाता है और उस नित्य वस्तु की खोज में अपना सारा पुरुषार्थ लगाता है, फिर कोई प्रलोभन आत्मज्ञान की प्राप्ति से उसे विमुख नहीं कर सकता । सारी उपनिषद् इसी बात का उपदेश करती हैं कि केवल यज्ञादि कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु उस के लिये आत्मज्ञान का होना परमावश्यक है । परन्तु मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी तभी हो सकता है जब कि नियमानुसार वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान करता हुवा अपने कर्त्तव्य का पालन करे । इत्यलं पल्लवितेन ॥

बदरीदत्त शर्मा

ओ३म्

अथ कठोपनिषत् प्रारभ्यते

तत्र प्रथमा वल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥१॥

पदार्थः-(ह, वै) सुना जाता है कि (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र ने (उशन्) फल की कामना करते हुवे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व को (ददौ) दान किया। (तस्य) उस वाजश्रवस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता नाम) नचिकेता नाम वाला (पुत्रः) बेटा (आस) था॥१॥

भावार्थः-वाजश्रवा नामक एक ऋषि था और यह नाम उस का इस लिये हुआ कि वह अन्न और विज्ञान के (जो वाज शब्द के वाच्यार्थ हैं) दान करने में प्रख्यातकीर्त्ति था। उस के पुत्र वाजश्रवस ने फल की कामना से सर्ववेदस नाम यज्ञ किया (जो संन्यास धारण करने के समय किया जाता है) और उस में सर्वस्व को सुपात्रों के लिये दान किया। उस का एक पुत्र था, जिस का नाम नचिकेता था॥१॥

तꣳ ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु
नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत॥२॥

पदार्थः-(कुमारं सन्तम् ह) बालक होने पर भी (तम् ह) उस नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किये हुवे पदार्थों के (नीयमानासु) यथायोग्य विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिकी बुद्धि (आविवेश) प्रविष्ट हुई (सः) वह (अमन्यत) सोचता था कि-॥२॥

भावार्थः-यज्ञ में जब ऋत्विजों को वाजश्रवस यथायोग्य दान का विभाग कर रहा था, उस समय नचिकेता को (यद्यपि अभी वह कुमार ही था तथापि पिता के उपदेश और ज्ञानियों के संसर्ग से सत्कर्मों में उस की निष्ठा उत्पन्न हो गई थी) यह ध्यान आयाः-

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पदार्थः—जो गायें (पीतोदकाः) जल पी चुकी हैं (जग्धतृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं (दुग्धदोहाः) दूध जिन का दुहा जा चुका है (निरिन्द्रियाः) सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ हो गई हैं, (ताः) उन को जो (ददत्) दान करता है (सः) वह (अनन्दा नाम ते लोकाः) आनन्दरहित जो लोक हैं (तान्) उन को (गच्छति) जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो पहिले खा पी चुकीं और दूध भी दे चुकीं, अब बुड्ढी हो जाने से न तो खा पी सकतीं हैं और न दूध ही दे सकतीं हैं, एवं सन्तान उत्पन्न करने में भी असमर्थ हो गईं हैं, ऐसी गायों को दान करने से दाता को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। फिर मेरा पिता क्यों ऐसी गौवों को दान कर रहा है? मैं उस को जहां तक हो सकेगा, इस अनिष्टापत्ति से निवृत्त करूंगा। चाहे इस में मेरा शरीर भी लग जावे। यह सोच कर वह पिता के समीप जा कर बोला—॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति, द्वितीयं तृतीयम्। तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(सः ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला— (तत) हे तात! (माम्) मुझ को (कस्मै) किस के लिये (दास्यसि) दोगे? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की, तब उसने (द्वितीयम्) दोबारा (तृतीयम्) तिबारा उक्त वाक्य कहा कि मुझे किस के लिये दोगे? तब पिता क्रुद्ध होकर (तम्) उस से (उवाच) बोला कि (मृत्यवे) मौत के लिये (त्वा) तुझ को (ददामि इति) दूंगा ॥ ४ ॥

भावार्थः—नचिकेता ने पिता से कहा कि आपने सर्ववेदस (जिस में सब कुछ दान कर दिया जाता है) यज्ञ किया है और इसी लिये आप सब कुछ दान कर चुके हैं। अब एक मैं शेष रहा हूं, सो आप मुझे किस के लिये दोगे? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की। तब उस ने पुनः पुनः अनुरोधपूर्वक कहा कि मुझ को किस के लिये दोगे? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुझे मौत के लिये दूंगा ॥ ४ ॥ नचिकेता ने ससंकोच पिता से कहा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किꣳस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

पदार्थः—(बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में मैं (प्रथमः) मुख्य (एमि) समझा जाता हूं । (बहूनां) बहुतसों में (मध्यमः) मध्यम (एमि) माना जाता हूं (यमस्य) मृत्यु का (किंस्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है (यत्) जो (मया) मुझ से (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा ॥ ५ ॥

भावार्थः—पिता की यह क्रूर आज्ञा सुनकर नचिकेता कहने लगा कि मैं बहुत से शिष्यों में मुख्य और बहुत सों में मध्यम हूं, किन्तु किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूं, फिर मौत का क्या काम अटका पड़ा है, जो वह आज मुझ से करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पदार्थः—पिता ने उत्तर दिया कि (यथा) जैसे (पूर्वे) पहिले लोग मृत्यु को प्राप्त हुवे हैं उन को (अनुपश्य) पीछे देख (तथा) ऐसे ही (परे) अगले लोगों की गति को (प्रतिपश्य) आगे देख कि (मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) यवादि के सदृश (पच्यते) जीर्ण होकर मरता है (पुनः) फिर (सस्यम् इव) धान्य के ही सदृश (आजायते) उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—वाजश्रवस नचिकेता से कहता है कि हे पुत्र ! पिछले तथा अगले लोगों की गति (परिणाम) को देख क्योंकि यह संसार अनित्य है। इस में जैसा अन्न क्षेत्र में पक कर वृक्ष से अलग हो जाता है, ऐसे ही प्राणी वृद्ध एवं जीर्ण होकर चोला छोड़ देता है और जैसे फिर बीज क्षेत्र में पड़ कर उत्पन्न होता है, ऐसे ही गर्भाशय में आकर यह भी जन्म धारण करता है । इस लिये तू इस अनित्य शरीर का मोह मत कर क्योंकि इस के नाश के पश्चात् दूसरा देह अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

पदार्थः--हे (वैवस्वत !) विवस्वान् के पुत्र, यम ! आप के (गृहान्) घरों में (वैश्वानरः) अग्नि के समान तेजस्वी (ब्राह्मणः) विद्या और तप से युक्त (अतिथिः) अभ्यागत (प्रविशति) आया हुवा है, (तस्य) ऐसे ब्रह्मचारी की [सज्जन धर्मात्मा लोग] (एताम्) इस सत्कारपूर्वक (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं, [अतः आप पाद्यादि के लिये] (उदकम्) जलादि को (हर) प्राप्त कीजिये ॥ ७ ॥

भावार्थः--इस प्रकार पिता के वाक्य को सुन कर नचिकेता मृत्यु के द्वार पर पहुंचा, मृत्यु घर पर न था, उसके सेवकों के आतिथ्य को उसने स्वीकार नहीं किया, तीन दिन तक अनाहार पड़ा रहा, तीसरे दिन जब यम आया, तब उस के सेवकों ने उस से कहा कि हे वैवस्वत ! * आप के घर में अग्नि के समान तेजस्वी, वर्चस्वी, ब्रह्मचारी अतिथिरूप से आया है । उस के आतिथ्य के लिये आप जलादि का आहरण कीजिये, क्योंकि सज्जन पुरुष अतिथिसत्कार को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्र
पशूꣳश्च सर्वान् । एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्प-
मेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

पदार्थः--(यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) निराहार (वसति) रहता है (तस्य अल्प-मेधसः) उस अल्पबुद्धि के (आशाप्रतीक्षे) ज्ञात वस्तु की चाहना आशा और अज्ञात वस्तु की कामना प्रतीक्षा कहलाती है--इन दोनों, (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाले फल, (सूनृताम्) प्रिय वाणी (च) उस को निमित्त दयाआदि, (इष्टापूर्ते) यज्ञादि श्रौत कर्म के फल को इष्ट और अनाथरक्षणादि स्मार्त कर्म के फल को पूर्त कहते हैं, इन दोनों को भी (च) और (सर्वान्) सब (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत्) इस सब को (वृङ्क्ते) [सत्कार न किया हुवा अतिथि] नाश करता है ॥ ८ ॥

* विवस्वान् नाम सूर्य का है, उस का पुत्र मृत्यु को इस लिये कहा कि सूर्य ही अपने उदयास्त से आयु का आदान करता है और इसी लिये उस को आदित्य भी कहते हैं ॥

भावार्थः—इस श्लोक में जो अतिथि का सत्कार नहीं करते उन के प्रति अनिष्ट फल का निर्देश किया गया है। पारिषद् पुनः मृत्यु से कहते हैं कि जिस के घर में अतिथि भूखा जाता है उन के उक्त शुभ कर्मों के फल को भी वह अपने साथ ले जाता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥" अर्थ—जिस के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उस का पुण्य लेकर और पाप उसे देकर जाता है॥ इस लिये इस अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, जिस से कि सुकृत का विलोप न हो॥ ८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्न-
तिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति
मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

पदार्थः—(ब्रह्मन्!) हे ब्रह्मवित्! आप (अतिथिः) आगमनतिथि के नियत न होने से अतिथि हैं, अतएव (नमस्यः) नमस्कार करने के योग्य हैं (ते) आप के लिये (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो। (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) हो। हे (ब्रह्मन्!) ब्रह्मवित्! (यत्) जो आप (मे) मेरे (गृहे) घर में (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रि (अनश्नन्) अन्न जल के विना (अवात्सीः) बसे (तस्मात्) इस कारण (प्रति) प्रति रात्रि एक २ के हिसाब से (त्रीन् वरान्) तीन वरों को (वृणीष्व) अङ्गीकार करें॥

भावार्थः—पारिषदों के इस प्रकार निवेदन करने पर मृत्यु नचिकेता को सम्बोधन करके कहता है कि—हे ब्रह्मन्! आप अतिथि होने से नमस्करणीय हैं, अतः आप के लिये मैं प्रणाम करता हूं। आप के आशीर्वाद से मेरा कल्याण हो। पुनः अपने अपराध की क्षमा चाहता हुवा मृत्यु नचिकेता से यह आवेदन करता है कि—हे ब्रह्मन्! आप मेरे घर में तीन रात्रि बराबर (उपोषित) विना आहार के रहे हैं, इस लिये आप प्रति रात्रि एक एक के हिसाब से तीन वर (जो मैं आप को देना चाहता हूं) अङ्गीकार कीजिये॥९॥

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु-
र्गौतमो माभि मृत्यो!। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्
प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

पदार्थः—(मृत्यो !) हे मृत्यु ! (गौतमः) गौतमगोत्रीय मेरा पिता (मा अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) शान्तचित्त, (सुमनाः) प्रसन्नमन, (वीतमन्युः) विगतरोष (यथा) जैसे (स्यात्) होवे, (त्वत्प्रसृष्टम्) आप के भेजे हुवे (मा अभि) तुझ को देख कर (प्रतीतः सन्) लब्धस्मृति होकर [कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था] (वदेत्) बोले । (एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन में से (प्रथमम्) पहिला (वरम्) वर (वृणे) चाहता हूं ॥ १० ॥

भावार्थः—मृत्यु के उक्त वचन को सुन कर नचिकेता ने कहा कि जैसे मेरा पिता मुझ पर प्रसन्न और कृपालु होजावे अर्थात् इस बीच के उत्पन्न हुवे क्रोध को त्याग कर पूर्ववत् वर्त्तने लगे और आप के भेजे हुवे मुझ को पहचान कर कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था, प्रीतिपूर्वक सम्भाषण करे और कुशलक्षेमादि पूछे। यह मैं उन तीन वरों में से (जो आप मुझे देना चाहते हैं) पहला वर आप से मांगता हूं ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारु-
णिर्मत्प्रसृष्टः । सुखꣳरात्रीः शयिता वीतम-
न्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(औद्दालकिः) उद्दालकवंशी (आरुणिः) अरुण* का पुत्र तेरा पिता (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था वैसा ही (मत्प्रसृष्टः) मुझ से प्रेरित वा बोधित होकर (प्रतीतः) तुझ पर विश्वास करने वाला (भविता) अवश्य होगा, (रात्रीः) शेष रात्रियों में भी (सुखम्) सुख से (शयिता) सोवेगा और (वीतमन्युः) विगतरोष होकर (त्वाम्) तुझ को (मृत्युमुखात्) मौत के मुंह से (प्रमुक्तम्) छूटा हुवा (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस प्रार्थना को सुनकर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि तेरा पिता जैसा पहले तुझ से स्नेहभाव रखता था वैसा ही अब मुझ से प्रेरित होकर तुझ पर दयालु होगा और अब विगतरोष होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक सोवेगा और तुझे मौत के मुंह से छूटा हुवा पाकर अत्यन्त हर्षित होगा ॥ ११ ॥

* यह वाजश्रवा का दूसरा नाम था ।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

पदार्थः-(स्वर्गे लोके) स्वर्गलोक में (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं है; (न तत्र) न वहां पर (त्वम्) तू=मृत्यु है और (न) न कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है (अशनायापिपासे) भूख और प्यास (उभे) दोनों को (तीर्त्वा) तरकर (शोकातिगः) शोक से वर्जित पुरुष (स्वर्गलोके) मोक्ष में (मोदते) आनन्द करता है ॥ १२ ॥

भावार्थः-नचिकेता द्वितीय वर की याचना करता हुआ मृत्यु से कहता है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है । वहां पर न रोग ही होते हैं और न बुढ़ापा ही किसी को सताता है और तू=मृत्यु भी वहां पर आक्रमण नहीं करता । उस स्वर्गलोक में जीवात्मा भूख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को जीत कर शोकरहित हो आनन्द करता है ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो ! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

पदार्थः-(मृत्यो !) हे मृत्यु ! (सः त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उस को (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखते हुये (मह्यम्) मेरे लिये (प्रब्रूहि) वर्णन कर [जिस से यथायोग्य अनुष्ठान करने से] (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग के अधिकारी जन (अमृतत्वम्) अमरत्व को (भजन्ते) सेवन करते हैं । (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः-नचिकेता पुनः कहता है कि उस स्वर्ग के साधनभूत ज्ञानाग्नि को आप भले प्रकार जानते हैं । कृपया मुझ श्रद्धालु के प्रति भी उस का उपदेश कीजिये, जिस से मैं भी अमरत्व को प्राप्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बनूं । यह मैं दूसरे वर से मांगता हूं ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥

पदार्थः-(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्नि को (प्रजानन्) जानता हुआ (ते) तेरे लिये (तत्) उस विद्या को (प्रब्रवीमि) मैं कहता हूं (मे) मेरे वचन को (निबोध) सुन वा जान (अथो) इस के अनन्तर (त्वम्) तू (एतम्) इस अग्नि को (अनन्तलोकाप्तिम्) विविध स्थानों में प्राप्त कराने वाला (प्रतिष्ठाम्) जगत् की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) बुद्धि में (निहितम्) स्थित वा व्याप्त (विद्धि) जान ॥ १४ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि मैं ज्ञानाग्नि को, जिस का मुझे पूर्ण अनुभव है, तेरे प्रति उपदेश करता हूं, तू सावधान होकर सुन। जिस अग्नि को जानने से मनुष्य पृथिवीस्थ वा अन्तरिक्षस्थ अनेक स्थानों में अनायास जा आ सकता है और जो सारे जगत् की स्थिति का हेतु है। यह बुद्धि से जाना जाता है ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥१५

पदार्थः (तस्मै) उस नचिकेता के लिये (लोकादिम्) सृष्टि की आदि में उत्पन्न अथवा दर्शन के हेतु (तम्) उस (अग्निम्) अग्नि का (उवाच) व्याख्यान किया [और उस अग्नि से सिद्ध होने वाले ज्ञानयज्ञादि में] (याः) जो (वा) या (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार से (इष्टकाः) ईंटें चिननी चाहियें वा जिस प्रकार अग्निचयन करना चाहिये, यह सब वर्णन किया (सः च अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा) जिस प्रकार (उक्तम्) मृत्यु ने उपदेश किया था (तत्) उस को (प्रति अवदत्) प्रत्यक्ष अनुवाद करके सुनाया (अथ) इस के अनन्तर (अस्य) इस के ऊपर (मृत्युः) मृत्यु (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी (आह) बोला ॥ १५ ॥-

भावार्थः-उपनिषत्कार कठ ऋषि कहते हैं कि मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उक्त अग्नि का सविस्तर व्याख्यान किया और ज्ञानयज्ञ के लिये उपयोगी

वेदि तथा अग्निचयन की विधि भी बतलाई, जिस को उस ने धारण करके प्रत्यक्ष अनुवाद भी कर दिया। जिस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर उस से कहता है ॥ १५ ॥—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण १६

पदार्थः—(महात्मा) उच्चभाव से भावित मृत्यु (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला कि—(भूयः) फिर भी (इह) इस दूसरे वर के प्रसङ्ग में (तव) तेरे लिये (अद्य) इस समय (वरम्) वर को (ददामि) देता हूं (अयम्) यह विधान किया हुआ (अग्निः) अग्नि (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से प्रसिद्ध (भविता) होगा (च) और (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) चित्र विचित्र (सृङ्काम्) माला वा प्रतिष्ठा को (गृहाण) स्वीकार कर ॥ १६ ॥

भावार्थः—नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर मृत्यु उस से कहता है कि मैं इस दूसरे वर के साथ ही एक और वर तुझे देना चाहता हूं और वह यह है कि यह अग्नि जिस का मैंने तेरे प्रति उपदेश किया है, तेरे ही (नाचिकेत) नाम से प्रसिद्ध होगा। अब तू मेरी दी हुई इस प्रतिष्ठा वा माला को ग्रहण कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

पदार्थः—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता के प्रति जिस का विधान किया गया वह "नाचिकेत" अग्नि कहलाता है। उस को जो तीन बार चयन करे वह पुरुष (त्रिभिः) तीन से (सन्धिम्) सम्बन्ध को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्ममृत्यू) जन्म और मरण के (तरति) पार होजाता है (ब्रह्मजज्ञम्) वेदरूप ज्ञान के उत्पन्न और धारण करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) परमात्मा को (विदित्वा) जान कर और (निचाय्य) निश्चय करके (अत्यन्तम्) अतिशय (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

पदार्थः-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम से ३ अग्नियों का चयन करने वाला पुरुष माता पिता एवं आचार्य इन तीन उपदेष्टाओं के सत्सङ्ग तथा उपदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान; इन तीन कर्मों का यथायोग्य अनुष्ठान करता हुआ जन्म और मरण के बन्धनों को शिथिल करता है, तत्पश्चात् प्रशान्तमय ब्रह्म को जान कर परमशान्ति (मुक्ति) का अधिकारी बनता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥१८॥

पदार्थः-(यः) जो (विद्वान्) ज्ञानवान् (त्रिणाचिकेतः) उक्त विधि से तीन वार चयन करने वाला पुरुष (एतत्,त्रयम्) इस तिगड्डे को (विदित्वा) जान कर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (सः) वह (मृत्युपाशान्) मौत के बन्धनों को (पुरतः) आगे से (प्रणोद्य) छिन्न भिन्न कर (शोकातिगः) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) आनन्द करता है ॥ १८ ॥

भावार्थः जो मनुष्य उक्त तीनों आश्रमों में उक्त तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करके उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का यथाविधि सेवन करता हुआ नाचिकेत अग्नि का सञ्चयन करता है, वह आगे होने वाले मौत के बन्धनों को तोड़ कर स्वर्ग में आनन्द करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः ! स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीये वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥

पदार्थः-(नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (एषः) यह (अग्निः) ज्ञानाग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का उपयोगी (ते) तुम्हारे लिये कहा गया (यम्) जिस को (द्वितीयेन वरेण) दूसरे वर से (अवृणीथाः) तुमने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव एव) तुम्हारे ही नाम से (जनासः) मनुष्य लोग (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे । (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (तृतीयम् वरम्) तीसरे वर को (वृणीष्व) मांग ॥ १९ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! यह स्वर्ग का सोपान अग्नि, जिस को तैने दूसरे वर से मांगा था, मैंने तेरे लिये दिया और इस अग्नि को तेरे ही नाम से प्रसिद्ध भी किया । अब तू तीसरा वर मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

पदार्थः—(मनुष्ये प्रेते) मनुष्य के मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति इति एके) है, ऐसा कोई मानते हैं (च) और (न अस्ति इति एके) नहीं है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं, इस प्रकार (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है, सो (त्वया) आप से (अनुशिष्टः) उपदेश पाया हुआ (अहम्) मैं (एतत्) इस आत्मवस्तु को (विद्याम्) जानूं। (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥ २० ॥

भावार्थः-अब तीसरे वर को मांगता हुआ नचिकेता मृत्यु से कहता है कि मनुष्य के मरने पर जो यह संशय होता है कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है या नहीं? इस को मैं आप से उपदेश पाकर जानना चाहता हूं। यही मेरा तीसरा वर (अभीष्ट) है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(पुरा) पहले (अत्र) इस आत्मिकविषय में (देवैः अपि) देवताओं ने भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एष) यह आत्मज्ञानरूप (धर्मः) विषय (अणुः) अति सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है, अतएव (नचिकेतः) हे नचिकेतः। तुम (अन्यं वरम्) अन्य वर को (वृणीष्व) मांगो (मा) मुझ को (मा-उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य मत दबाओ (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अतिसृज) त्याग दो ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस तीसरे वर को सुन कर मृत्यु नचिकेता की परीक्षा करने के लिये कि यह आत्मज्ञान का अधिकारी है वा नहीं? उस से कहता है कि इसी विषय पर पहले बड़े २ विद्वानों के सन्देह और वाद हो चुके हैं, वे भी पूर्णरूप से इस की मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अतिसूक्ष्म होने से दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इस में प्रवृत्त होने से प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे। अतएव हे नचिकेतः। तुम और कोई वर, जिस के फल में सन्देह न हो, मुझ से मांगो। मुझे अधमर्ण के समान मत दबाओ और इस वर की हठ छोड़ दो ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो !
यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो
न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

पदार्थः-(मृत्यो !) हे अन्तक ! (अत्र) इस विषय पर (देवैः अपि) बड़े २ विद्वानों ने भी (विचिकित्सितम्) सन्देह वा अन्वेषण किया है (त्वं च किल) और तू भी (यत् सुविज्ञेयं न) जो सुगमता से जानने के योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है (अस्य) इस विषय का (वक्ता) कहने वाला (त्वादृक्) तेरे तुल्य (अन्यः) और (न लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) बराबर (अन्यः कश्चित् वरः न) और कोई वर नहीं है ॥ २२ ॥

भावार्थः-यह वचन सुन कर नचिकेता बोला कि हे मृत्यो ! जब बड़े २ विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा और आलोचना की है और तू भी इस को अतिसूक्ष्म और दुर्ज्ञेय बतलाता है, इसी से इस का परमोत्तम और सर्वोपरि होना अनुमान किया जाता है और तेरे समान उपदेष्टा मुझे कहां मिलेगा ? जो ऐसे गहन और कठिन विषय को मेरे हृदयङ्गम और बुद्धिगोचर करेगा । अतः मेरी सम्मति में इस के बराबर और कोई वर नहीं है ॥२२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून्
हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

पदार्थः-(शतायुषः) सौ वर्षपर्यन्त जीने वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटे पोतों को (वृणीष्व) मांग और (बहून् पशून्) बहुत से गाय, बैल आदि पशु (अश्वान्) घोड़े (हस्तिहिरण्यम्) हाथी और सुवर्ण आदि तथा (भूमेः) पृथिवी के (महत्) बड़े (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) मांग (स्वयं च) और तू भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) चाहता है (जीव) जीवन धारण कर ॥ २३ ॥

भावार्थः-नचिकेता का तद्विषयक आग्रह सुनकर फिर भी मृत्यु उस को प्रलोभन देता हुवा कहता है कि दीर्घजीवी पुत्र, पौत्र, गौ, अश्व, हस्ति

आदि उत्तम २ पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थ, पृथिवी के एक महान का राज्य; यह सब मुझ से मांग, मैं तुझे दूंगा। यदि इन में यह शङ्का हो कि अपने बिना यह सब तुच्छ हैं तो अपना जीवन भी जितना चाहता है, मांग ॥२३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि २४

पदार्थः- (यदि) जो (एतत्) इस उक्त वर के (तुल्यम्) बराबर (वरम्) वक्ष्यमाण वर को (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) ऐश्वर्य के साधन धन (च) और (चिरजीविकाम्) सदा की आजीविका को (वृणीष्व) मांग। (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (त्वम्) तू (महाभूमौ) बड़ी पृथिवी पर (एधि) बढ़ने वाला हो अर्थात् सार्वभौम राज्य को प्राप्त हो (त्वा) तुझ को (कामानाम्) सम्पूर्ण कामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थः—पुनः मृत्यु कहता है कि यदि उक्त वर के तुल्य सदा की आजीविका और प्रभूत धन को समझता है तो उस को भी मांग और यदि इन सब से बढ़कर सार्वभौम राज्य का अभिलाष है तो वह भी मैं तेरे लिये दे सकता हूं और तेरी जो कामना हो, उसे पूर्ण कर सकता हूं ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो ! मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

पदार्थः—(मर्त्यलोके) पृथिवी में (ये ये) जो जो (कामाः) कामनायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं उन (सर्वान्) सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग। (इमाः) ये (सरथाः) रथादि यानों सहित (सतूर्याः) वादित्रादि सहित (रामाः) रमणीय स्त्रियां हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभिः) मेरी दी हुई युवतियों से (परिचारयस्व) अपनी सेवा शुश्रूषा कराओ (हि) निस्सन्देह (ईदृशाः) ऐसे भोग (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) अप्राप्य हैं। (नचिकेतः) हे नचिकेतः ! (मरणम्) मौत को (मा अनुप्राक्षीः) मत पूछ ॥ २५ ॥

भावार्थः- पुनः मृत्यु कहता है कि जो २ कामनायें इस मर्त्यलोक में दुष्प्राप्य हैं, उन सब को यथारुचि मांग और विविध यान एवं वादित्रादि सहित और मनोहारिणी स्त्रियां हैं इन के साथ रमण कर। ऐसे विचित्र भोगसाधन मनुष्यों को दुर्लभ हैं। हे नचिकेतः! ऐसे दिव्य पदार्थों को छोड़ कर मौत का प्रश्न क्यों करता है ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां
जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

पदार्थः-(अन्तक!) हे मृत्यु! (यत्) क्योंकि (श्वोभावाः) कल ही कल (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेजः) तेज का (जरयन्ति) नाश करदेती हैं। (सर्वम् अपि जीवितम्) सब जीवन भी (अल्पम् एव) अल्प ही है [अतएव प्राणी] (तव एव) तेरे ही (वाहाः) वाहन रहे [और] (नृत्यगीते) नाचना, गाना भी (तव) तेरा ही रहा ॥ २६ ॥

भावार्थः- इस प्रकार बहुविध प्रलोभित किया हुआ भी नचिकेता अपने अभीष्ट वर को नहीं त्यागता और मृत्यु से कहता है कि यह सब कल ही कल में बीतने वाले समय, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करने वाले हैं और समस्त जीवन भी चाहे उस की पूर्ण अवधि ही क्यों न हो, मुक्तिसुख की अपेक्षा अल्प ही है क्योंकि यह सब मिलने पर भी अन्त में तो तेरे ही अधीन रहना पड़ा और तू (मृत्यु) ही सिर पर नाचता रहा ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे
वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो याव-
दीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

पदार्थः-(मनुष्यः) प्राणी (वित्तेन) धन से (न तर्पणीयः) तृप्त नहीं हो सकता (चेत्) जो (त्वा) तुझ मौत को (अद्राक्ष्म) हम ने देखा तो (वित्तम्) ऐश्वर्यभोग को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा तब तक (जीविष्यामः) जीवेंगे। अतः (मे) मुझ को (वरः तु) वर तो (सः एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ॥ २७ ॥

भावार्थः—पुनः नचिकेता कहता है कि धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती और यदि तुझ को देखेंगे तो धन मिलेगा, इस लिये मुझे धन की स्पृहा नहीं है और जीवन भी जब तक तू (मृत्यु) न हो तभी तक है, अतएव इस की भी आकाङ्क्षा नहीं है । वर तो मेरा केवल वही प्रार्थनीय है, जिस की याचना मैं कर चुका हूं ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्व-
धःस्थः प्रजानन् । अभिध्यायन्वर्णरतिप्र-
मोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अजीर्यताम्) जरा से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य प्राप्त) होकर (क्वधःस्थः) पृथिवी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (जीर्यन्) शरीरादि के नाश का अनुभव करता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्) सुन्दर वर्ण और सुरतजन्य विनश्वर सुखों को (अभिध्यायन्) सोचता हुवा (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुवा (अतिदीर्घे जीविते) बहुत बड़े जीवन में (रमेत) रमण करे ॥ २८ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनः कहता है कि मरणरहित मुक्त पुरुषों को पाकर एवम् सांसारिक सुखभोगों की विनश्वरता को देखता हुवा कौन ऐसा निकृष्ट दशा में स्थित प्राणी है, जो मुक्ति जैसे उच्चकक्षा के सुख को छोड़ कर अति-दीर्घकालीन जीवन की (जो नाना प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण है) इच्छा करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्प-
राये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनु-
प्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

पदार्थः—(मृत्यो !) हे मृत्यो ! (यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान विषय में (इदम्) आत्मा कोई है वा नहीं ? यदि है तो कहां है ? और कैसा है ? इत्यादि प्रकार से (विचिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) अनन्त (साम्पराये) परमार्थ दशा में [प्राप्त किया जाता है] (तत्) उस आत्मज्ञान को (नः) हमारे प्रति (ब्रूहि) उपदेश कर (यः) जो (अयम्)

यह प्रत्यक्षप्राप्त (गूढम्) गुप्त (वरः) वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उस से (अन्यम्) भिन्न वर को (नचिकेता) मैं (न वृणीते) नहीं चाहता ॥ २९ ॥

भावार्थः-नचिकेता पुनरपि कहता है कि हे मृत्यो! जिस आत्मा के विषय में लोग अनेक प्रकार से सन्देह करते हैं और जो केवल पारमार्थिक दशा में जाना जाता है, उसी आत्मतत्त्व का मेरे प्रति उपदेश कर। यह मेरा गूढ अभीष्ट, जो मेरे हृदय में समाया हुआ है, इस से भिन्न और कोई वर मैं नहीं चाहता ॥ २९ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमा वल्ली समाप्ता

—0:※0:—

अथ द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पु-
रुषꣳसिनीतः। तयोः श्रेयआददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥ (३०)

पदार्थः-(श्रेयः) निःश्रेयसरूप कल्याण का मार्ग (अन्यत्) और है (उत) और (प्रेयः) अभ्युदयरूप रोचक मार्ग (अन्यत् एव) और ही है (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न २ प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) वासनारूप रज्जु में बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः आददानस्य) श्रेय ग्रहण करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है (यः उ) और जो (प्रेयः) प्रेय को (वृणीते) ग्रहण करता है वह (अर्थात्) परमार्थरूप प्रयोजन से (हीयते) भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

भावार्थः—जब ऐसे २ प्रलोभन देने पर भी नचिकेता अपने सङ्कल्प से न हटा, तब मृत्यु उस को आत्मज्ञान का अधिकारी समझ कर उपदेश करता है कि हे नचिकेतः! इस संसार में मनुष्यों के लिये दो मार्ग हैं। १ श्रेय, २ प्रेय। इन्हीं को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग भी कहते हैं। श्रेय मार्ग-जिस में चलने से मनुष्य का कल्याण होता है, प्रेय मार्ग से-जिस में फंस कर मनुष्य लोलुप और अधीर हो जाता है, अत्यन्त विलक्षण है। इन में से प्रेय को ग्रहण करने वाला श्रेय से वञ्चित रह जाता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य
विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो
वृणीते प्रेयोमन्दोयोगक्षेमाद्वृणीते॥२॥(३१)

पदार्थः—(श्रेयः) अरोचक परन्तु कल्याण का मार्ग (च) और (प्रेयः) रोचक परन्तु अकल्याण का मार्ग; यह दोनों (मनुष्यम्) मनुष्य को (एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) सम्यक् प्राप्त होकर (विविनक्ति) विवेचन करता है (धीरः हि) विद्वान् ही (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्ग को (अभिवृणीते) सब ओर से ग्रहण करता है (मन्दः) मूर्ख (योगक्षेमात्) धनादि के उपार्जन और रक्षण से (प्रेयः) प्रवृत्तिमार्ग को ही (वृणीते) स्वीकार करता है ॥ २ ॥

भावार्थः—यद्यपि श्रेय मार्ग कष्टसाध्य होने से आदि में अरोचक और नीरस सा प्रतीत होता है, तद्विरुद्ध प्रेय सुखसाध्य होने से प्रथम रोचक और सरस प्रतीत होता है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष " यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् " जो पहिले विष के समान प्रतीत होता है, परिणाम में वही अमृत के तुल्य हो जाता है। इस के तत्त्व को जानता हुवा परमार्थ के आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु मन्दबुद्धि जन पहिले ही सुखाभास में लिप्त होकर सदा के लिये वास्तविक सुख से हाथ धो बैठता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्याय-
न्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳसृङ्कां वित्तमयी-
मवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवोमनुष्याः॥३॥(३२)

पदार्थः—(नचिकेतः !) हे नचिकेतः ! (सः त्वम्) सो तैने (प्रियान्) पुत्र पौत्रादि (प्रियरूपान्) सुन्दरी कामिनी आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) उन की असारता को विचार कर (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस भोगैश्वर्यरूप (सृङ्कान्) शृङ्खला में (न अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिस में (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि-हे नचिकेतः ! तैने सांसारिक सुख भोगों को अनित्य और असार समझ कर त्याग दिया। अर्थात् प्रेय मार्ग का, जिस में सांसारिक मनुष्य प्रायः फंसे रहते हैं, अनुसरण नहीं किया। इस लिये तू आत्मज्ञान का अधिकारी है॥ ३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च वि-
द्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥ (३३)

पदार्थः-(एते) उक्त दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग (विपरीते) परस्पर विरुद्ध (विषूची) वैधर्म्यसूचक (दूरम्) भिन्न २ हैं [विद्वानों ने उक्त दोनों मार्ग] (अविद्या या च विद्या इति) अविद्या और विद्या के नाम से (ज्ञाता) जाने हैं। मैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या का चाहने वाला अर्थात् श्रेयःपथगामी (मन्ये) मानता हूं। इस लिये कि (त्वा) तुझ को (बहवः कामाः) बहुत सी कामनायें (न अलोलुपन्त) प्रलोभित नहीं कर सकीं॥ ४॥

भावार्थः मृत्यु कहता है कि जैसे दिन रात, सुख दुःख इत्यादि परस्पर-विरुद्ध होने से महा अन्तर रखते हैं। इसी प्रकार उक्त श्रेय और प्रेय मार्ग भी परस्पर प्रतिकूल हैं। विद्वान् लोग इन्हीं का विद्या और अविद्या के नाम से निर्देश करते हैं। तुझ को बहुत सी कामनायें (जो अविद्या से उत्पन्न होती हैं) प्रेय मार्ग में न लेजासकीं, इस लिये मैं तुझे विद्यानुरागी अर्थात् श्रेयःपथानुगामी समझता हूं॥ ४॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः
पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति
मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५ ॥ (३४)

पदार्थः-(अविद्यायाम् अन्तरे) अविद्या के बीच में (वर्त्तमानाः) पड़े हुवे (स्वयम्) अपने को (धीराः) धीर और (पण्डितंमन्यमानाः) पण्डित मानते हुवे (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिलपथगामी अथवा इधर उधर घूमते हुवे (मूढाः) विक्षिप्तचित्त (अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः) जैसे अन्धे से लेजाये गये अन्धे (परियन्ति) घूमते हैं॥ ५॥

भावार्थः-श्रेयमार्ग में अनुधावन करने वाले कामुक पुरुष यद्यपि चारों ओर से अविद्या में फंसे हुवे होते हैं तथापि अपने को धीर और पण्डित मानते हुवे कुटिलपथ में प्रवेश करते हैं और मोह के चक्र में पड़कर इधर उधर घूमते हैं। ऐसों के अनुयायियों की वही दशा होती है, जो अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे की ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं
वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर
इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥ (३५)

पदार्थः-(वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्) मुग्ध (प्रमाद्यन्तम्) प्रमत्त (बालम्) विवेकरहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक वा परमार्थ सम्बन्धी विचार वा अन्वेषण (न प्रतिभाति) नहीं भाता। (अयं लोकः) यही लोक है (परः नास्ति) परलोक वा परमार्थ नहीं है (इति) ऐसा (मानी) मानने वाला (पुनः पुनः) वारंवार (मे) मुझ मृत्यु के (वशम्) वश में (आपद्यते) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि जो पुरुष धनादि पदार्थों के मोह से उन्मत्त और विवेकरहित हो रहे हैं, उन को परमार्थ की बातें नहीं सुहातीं। वे इस प्रत्यक्ष संसार को ही अनन्य सुख का साधन मानकर परमार्थ को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। ऐसे लोग वारंवार मेरे वश में पड़कर जन्म मरण के दुःखों को भोगते हैं ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि
बहवो यं न विद्युः। आश्चर्योस्य वक्ता कुशलोस्य
लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥ (३६)

पदार्थः-(यः) जो आत्मतत्त्व (बहुभिः) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने के लिये भी (न लभ्यः) नहीं मिलता (शृण्वन्तः अपि) सुनते हुवे भी (बहवः) अनेक जन (यम्) जिस को (न विद्युः) नहीं जानते (अस्य) इस आत्मतत्त्व का (वक्ता) प्रवचन करने वाला (आश्चर्यः) कोई विरला ही होता है, (अस्य) इस का (लब्धा) पाने वाला (कुशलः) कोई बड़ा

विवेकशील होता है। (कुशलानुशिष्टः) विवेकी पुरुष से उपदेश पाया हुवा (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः) कोई होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-आत्मज्ञान की दुष्करता कहते हैं। जो आत्मतत्त्व बहुत से सांसारिक कामों में आसक्त पुरुषों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता और बहुत से अनधिकारी सुनते हुवे भी जिस को नहीं जान सकते अतएव उस का प्रवचन करने वाला कोई विरला ही होता है। श्रोताओं में भी उसका यथार्थरूप से समझने वाला कोई विवेकी ही पुरुष (जो संस्कृतात्मा और परमार्थ के साधनों से सम्पन्न है) मिल सकता है ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा
चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र ना-
स्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥ (३७)

पदार्थः-(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया हुवा (बहुधा) अनेक प्रकार से (चिन्त्यमानः) विचार किया हुवा भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सुगमता से जानने योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) जो अनन्यभाव से परमात्मा की उपासना करते हैं ऐसे तन्मय और तत्परायण आचार्यों के उपदेश किये हुवे (अत्र) इस आत्मा में (गतिः) विकल्प वा सन्देह (नास्ति) नहीं है। वह आत्मा (अणुप्रमाणात्) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अतिसूक्ष्म है (हि) इसी लिये (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थः-इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है। जिन की बुद्धि प्राकृत पदार्थों में रमण करती है, ऐसे साधारण पुरुषों के वारंवार उपदेश करने से भी वह आत्मा सम्यक् नहीं जाना जाता किन्तु जो अनन्य भाव से तन्मय और तत्परायण होकर उस की उपासना में रत हैं, ऐसे आचार्यों के उपदेश से ही असन्दिग्ध रीति पर वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अप्रतर्क्य आत्मतत्त्व जाना जाता है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय
प्रेष्ठ !। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्
नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥ (३८)

पदार्थः- हे (प्रेष्ठ !) प्रियतम ! (एषा) यह आत्मप्रसूता (मतिः) बुद्धि (तर्केण) स्वबुद्धिकल्पित हेतुओं से (न, आपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन एव) शास्त्रवित् आचार्य से ही (प्रोक्ता) उपदेश की हुई उक्त बुद्धि (सुज्ञानाय) सम्यक्ज्ञान के लिये होती है (सत्यधृतिः) तू निश्चल धैर्य वाला (असि) है (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुआ है (बत) [अनुकम्पा सूचक अव्यय है] । हे (नचिकेतः !) नचिकेतः (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हम से (प्रष्टा) पूछने वाला (भूयात्) हो॥९॥

भावार्थः–यद्यपि धर्मादि विषयों के निर्णय में मन्वादि महर्षियों ने तर्क का उपयोग माना है, यथा " यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः " अर्थात् जो तर्क से अनुसन्धान करता है वह धर्म को जान सकता है, इतर नहीं, इत्यादि । तथापि आत्मज्ञान के विषय में (जो निश्चयात्मिका बुद्धि की अपेक्षा रखता है) तर्क से कुछ काम नहीं चलता क्योंकि जहां सन्देह होता है वहीं तर्क की प्रवृत्ति होती है । आत्मतत्त्व के जानने पर सारे सन्देह और विकल्प शान्त हो जाते हैं फिर भला वहां तर्क का प्रवेश क्योंकर हो सकता है ? इस बात को लक्ष्यमें रख कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे प्रियतम ! यह शास्त्रवित आचार्यों के उपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि, जिस को तू प्राप्त हुवा है, केवल तर्क के आधार पर न लगानी चाहिये किन्तु आगम पर श्रद्धा रखते हुवे श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिये ॥ ९ ॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्रा-
प्यते हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नाचिकेतश्चितो-
ऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥ २९ ॥

पदार्थः–(अहम्) मैं (शेवधिः) कर्मफलजन्य स्वर्गादि (अनित्यम्) अनित्य है (इति) ऐसा (जानामि) जानता हूं (हि) निस्सन्देह (अध्रुवैः) अनित्य और अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) नित्य और अचल आत्मा (न, प्राप्यते) नहीं पाया जाता (ततः) इसी लिये (मया) मैंने (नाचिकेतः) जिस का अभी तुम्हारे प्रति विधान किया है वह अग्नि (चितः) कर्मफलवासना से रहित होकर चयन किया है । अतः (अनित्यैः

द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान् अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुआ हूं ॥ १० ॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि यद्यपि यह मैं जानता हूं कि सकाम कर्म से स्वर्गादि अनित्य पदार्थों की प्राप्ति होती है परन्तु इन अनित्य साधनों से वह नित्य ब्रह्म अप्राप्य है, इसी लिये मैंने कर्मफल की वासना को त्यागकर यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया है जो साक्षात् नहीं तो परम्परा से मेरे मोक्ष का कारण हुये हैं। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो कर्म फल की वासना से किये जाते हैं वही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, केवल निष्काम कर्म करने से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥१०॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभ-
यस्य-पारम् । स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरोनचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥ (४०)

पदार्थः—(नचिकेतः) हे नचिकेतः ! तैंने (कामस्य) भोगादि कामनाओं की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) संसार की (प्रतिष्ठाम्) स्त्रीसंभोगादि रूप से स्थिति को, (क्रतोः) यज्ञादि के (अनन्त्यम्) अखण्ड राज्यादि फल को, (अभयस्य) सांसारिक निर्भयता की (पारम्) पराकाष्ठा को, (उरु-गायम्) बहुधा मनुष्य जिस का गान करते हैं ऐसे (स्तोममहत्) स्तुति-समूह और (प्रतिष्ठाम्) प्रशंसा को (दृष्ट्वा) ज्ञान चक्षु से इन सब को असार देखकर (धृत्या) धैर्य से (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया, अतएव (धीरः) तू बड़ा बुद्धिमान् है ॥ ११ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! तुझ को संसार की बड़ी से बड़ी कामनायें भी न लुभा सकीं । अतएव तू धीर है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं
पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥ (४१)

पदार्थः—(धीरः) विद्वान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को हटा कर आत्मा में लगाने से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) दुःख से जानने योग्य (गूढम्) अतीन्द्रिय होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम् अन्तःकरण और जीवात्मा में भी व्याप्त (गुहाहितम्) बुद्धि में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गम होने से विषमस्थ (पुराणम्) सनातन (देवम्) प्रकाशमय आत्मा को (मत्वा) मानकर (हर्षशोकौ सुख दुःख को (जहाति) त्याग देता है ॥१२॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होने से दुर्दर्श है, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। यहां तक कि अप्राप्त देश में पहुंचने वाला मन भी वहां तक जाने में थक जाता है। वह केवल धारणावती बुद्धि में स्थित होने से (जो विना अध्यात्मयोग के अप्राप्य है) विषमस्थ कहलाता है। उस का योगी जन अध्यात्मयोग से (जो बाह्य विषयों से चित्त को हटा कर अन्तरात्मा में लीन करने से सिद्ध होता है) प्राप्त होकर हर्ष शोक को त्याग देते हैं ॥१२॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यम-
णुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥ (४२)

पदार्थः—(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस वक्ष्यमाण (धर्म्यम्) धर्म के अधिकरण आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर तथा (सम्परिगृह्य) अच्छे प्रकार ग्रहण करके, एवं (प्रवृह्य) वारम्वार अभ्यास करके (एतम्) इस (अणुम्) सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (मोदते) आनन्दित होता है। ऐसे ब्रह्म को (नचि-तसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्, सद्म) खुला है द्वार जिस का ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! इस ब्रह्म को श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा जो मनुष्य ग्रहण करते हैं वह आनन्दमय पद को प्राप्त होकर सब बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं। तेरे लिये भी इस गुप्त मन्दिर में (जिस का पता लगना बड़ा कठिन है) प्रवेश करने के लिये द्वार खुला हुवा है ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥ (४३)

पदार्थः—(धर्मात्) कर्तव्यरूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्तव्य से (अन्यत्र) अलग (अस्मात्) इस (कृताऽकृतात्) कार्य और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) भूत काल से (भव्यात्) भविष्यत् से (च) वर्त्तमान से भी (अन्यत्र) अतिरिक्त (यत्) जिस को (पश्यसि) देखते हो (तत्) उस को (वद) कहो ॥ १४ ॥

भावार्थः—नचिकेता प्रश्न करता है—हे मृत्यु ! जो पदार्थ धर्म और अधर्म और उन के शुभाऽशुभ फल से रहित, एवं कार्य, कारण और उन के उत्पत्ति और विनाश धर्म से भिन्न तथा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालों के बन्धन से पृथक् है, उस का मेरे प्रति उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च
यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते
पदꣳ सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥ (४४)

पदार्थः—(सर्वे, वेदाः) चारों वेद (यत्, पदम्) जिस पद का (आमनन्ति) बारम्बार वर्णन करते हैं (सर्वाणि, तपांसि, च) सारे तप और नियमादि भी (यत्) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं (यत्) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुये (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्याश्रम का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्, पदम्) उस पद को (ते) तेरे लिये (सङ्ग्रहेण) संक्षेप से (ओम् इति, एतत्) " ओम् " है, यह (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः—अब मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है कि हे नचिकेतः ! चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य जिस पद की प्राप्ति कराने का है अर्थात् उक्त वेद कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से जिस पद का चिन्तन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा अन्य धर्मानुष्ठान भी जिस पद की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, उस पद का वाचक अनन्यरूप से केवल " ओम् " यह शब्द है, जिस का मैं तेरे प्रति उपदेश करता हूं ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं
ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥ (४५)

पदार्थः—(एतत् हि, एव) यह ओ३म् ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत्, एव) यह ही (परम्) सब में उत्तम (अक्षरम्) अक्षर है (एतत् हि एव) इस ही (अक्षरम्) अक्षर को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो (यत्) जिस अर्थ को (इच्छति) चाहता है (तस्य, तत्) उस को वह अर्थ अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थः—वाच्य और वाचक की अभिन्नता कहते हैं । वाचक ही से वाच्य का निर्देश किया जाता है । संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस का कोई वाचक न हो । परमात्मा के वाचक यद्यपि अग्नि आदि और भी अनेक शब्द हैं तथापि वे अन्य पदार्थों के भी वाचक हैं । केवल यही एक शब्द है जो अनन्यभाव से उस की सत्ता का बोध कराता है और किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं । इसी लिये वाच्य ब्रह्म से इस की अभिन्नता प्रतिपादन की गई है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥ (४६)

पदार्थः—(एतत्) यह (आलम्बनम्) साधन (ओम्) प्रशस्त है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जान कर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मानन्द में (महीयते) आनन्द करता है ॥ १७ ॥

भावार्थः—फिर उसी के माहात्म्य को कहते हैं । ब्रह्मज्ञान के साधनों में " ओ३म् " की उपासना करना सर्वोत्तम है अर्थात् इसी परमोत्तम साधन से वाच्य ब्रह्म की उपासना करना ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं
पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥ (४७)

पदार्थः (विपश्चित्) सर्वज्ञ (अयम्) यह आत्मा (न, जायते, वा, म्रियते) न उत्पन्न होता और न मरता है (कुतश्चित्) किसी उपादान से

(न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुआ (कश्चित्) कोई इस से भी उत्पन्न नहीं हुआ (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) विकाररहित (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) देह के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नहीं नष्ट होता ॥ १८ ॥

भावार्थः-अब उस "ओ३म्" के वाच्य का निरूपण करते हैं-वह आत्मा जन्म मरण से रहित है। उस का कोई उपादान नहीं (जिस से वह उत्पन्न हुआ हो) और न वह किसी का उपादान है (जिस से कोई उत्पन्न हो) वह अजन्मा, निर्विकार, सनातन और अनादि होने से सदा एकरस रहता है। जिस प्रकार घट मठादि के टूटने फूटने पर आकाश में कोई विकार नहीं आता, उसी प्रकार शरीरों के विनाश होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता ॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥१९॥(४८)

पदार्थः-(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) मानता है तथा (चेत्) यदि (हतः) मारा हुआ (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) मानता है (तौ, उभौ) वे दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्) यह आत्मा (न, हन्ति) किसी को नहीं मारता (न, हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः-मारने वाला यदि यह समझता है कि मैं आत्मा को मार सकता हूं और मारा हुआ यह जानता है कि आत्मा मारा गया। यह दोनों कुछ नहीं जानते क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्नि-
हितोगुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥ (४९)

पदार्थः-(आत्मा) ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म जीवात्मा से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े आकाशादि से भी (महीयान्) बड़ा है, वह (अस्य, जन्तोः) इस प्राणी की (गुहायां) बुद्धि में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुः

प्रसादात्) बुद्धि के विमल होने से (अक्रतुः) कामनारहित (वीतशोकः) विगतशोक प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

भावार्थः-जो आत्मा व्यापक होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनन्त होने से बड़े से भी बड़ा है, वह मनुष्य की धारणावती बुद्धि में स्थित है। जिन की बुद्धि बाह्य विषयों से उपरत होकर विमल होगई है, ऐसे काम, शोक से विवर्जित विरक्त जन ही उस की महिमा को सर्वत्र देखते हैं ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥ (५०)

पदार्थः-(आसीनः) बैठा हुवा (दूरम्) दूर (व्रजति) पहुंचता है (शयानः) सोता हुवा (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तम्) उस (मदामदम्, देवम्) आनन्दरूप देव को (मदन्यः) मुझ से सिवाय (कः) कौन (ज्ञातुं) जानने को (अर्हति) योग्य है ॥ २१ ॥

भावार्थः-"आसीन" शब्द से अचल और "शयान" से व्यापक लिया जाता है। हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे कि अचल का दूर पहुंचना और व्यापक का सब ओर जाना कैसे होसकता है? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वरूप से अचल और व्यापक है तथापि व्याप्य पदार्थों में गत्यादि क्रियाओं के होने से ब्रह्म में भी उन का अध्यास किया जाता है क्योंकि विना ब्रह्म की सत्ता के किसी पदार्थ में भी गति और चेष्टा आदि क्रियायें नहीं रह सकतीं। एतदर्थ व्याप्य के धर्मों का व्यापक में आरोप करके वर्णन किया जाता है और ऐसा किये बिना उस अचल और अखण्ड ब्रह्म को हम समझ नहीं सकते। मृत्यु नचिकेता की श्रद्धा बढ़ाने के लिये कहता है कि मेरे सिवाय उस सांसारिक विनश्वर सुख से रहित और पारमार्थिक नित्यानन्द से पूरित ब्रह्म को और कौन जान सकता है? ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥ (५१)

पदार्थः-(शरीरेषु) विनाश धर्म वाले पदार्थों में (अशरीरम्) विनाश रहित (अनवस्थेषु) चलायमान पदार्थों में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जान कर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

भावार्थः-उक्तार्थ को इन श्लोक में स्पष्ट करते हैं । यद्यपि परमात्मा अनित्य, चलायमान और विनाशशील पदार्थों में व्यापक होने से उन में अवस्थित है तथापि स्वयम् नित्य, अचल और अविनाशी होने से उन के धर्म में लिप्त नहीं होता । उस सब में और सब से अलग आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान कर धीर पुरुष शोक से मुक्त होता है ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न
बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्त-
स्यैष आत्मा वृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥ (५२)

पदार्थः-(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता, (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं मिलता (बहुना, श्रुतेन) बहुत सुनने से भी (न) नहीं जाना जाता (एषः) आत्मा (यम्, एव) जिस को ही (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा (तस्य) उस के लिये (स्वाम्, तनूम्) अपने यथार्थस्वरूप को (वृणुते) प्रकाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थः-श्रवण, मनन और प्रवचन आदि यद्यपि परम्परा से तो ब्रह्म-प्राप्ति के साधन माने ही जाते हैं । परन्तु साक्षात् इन से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होसकती । जब साधक वा जिज्ञासु अनन्यभाव से आत्मा की ओर झुकता है और आत्मा उस को अधिकारी समझ कर स्वीकार करता है तब इस को आत्मतत्त्व का बोध होता है और वह आत्मा इस के लिये अपने यथार्थ पारमार्थिक स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२४॥ (५३)

पदार्थः-(दुश्चरितात्) पापकर्मों से (न, अविरतः) जो उपरत नहीं हुवा वह (एनम्) इस आत्मा को (न) नहीं प्राप्त होता (अशान्तः) चञ्चल-चित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं पाता (वा) और (अशान्तमानसः, अपि) जिस ने बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में जाने से रोक लिया है परन्तु मन जिस का तृष्णा में फंसा हुवा है वह

भी (न) नहीं प्राप्त होता, केवल (प्रज्ञानेन) यथार्थ ज्ञान से (आप्नुयात्) ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य हिंसा, स्तेय, अनृत आदि प्रतिषिद्ध कर्मों से उपरत नहीं हुआ वह आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं है । उक्त अविहित कर्मों से पृथक् होकर भी जिस का चित्त शान्त नहीं हुआ है अर्थात् संशय और विकल्प की तरङ्गों में घूम रहा है वह भी उस का अधिकारी नहीं । लब्धशान्ति होकर अर्थात् बाह्येन्द्रियों को विषयों से रोक कर भी जिस की वासनारूप तृष्णा नहीं बुझी वह भी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु जो सारे अपकर्मों से उपरत होकर शान्तचित्त और समस्त विषयवासनाओं से वितृष्ण होकर आत्मपरायण हो गया है वह केवल यथार्थज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥ (५४)

पदार्थः—(यस्य) जिस ब्रह्म के (ब्रह्म) ब्राह्मण (च) और (क्षत्रं च) क्षत्रिय भी (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं । (यस्य) जिस का (उपसेचनम्) उपसेचन (मृत्युः) मौत है (सः) वह परमात्मा (यत्र) जिस दशा में वा जैसा है (इत्था) इस प्रकार (कः, वेद) कौन जान सकता है ? ॥ २५ ॥

भावार्थः—ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म यह दोनों ही जगत् की स्थिति के मुख्य कारण हैं "मुख्यगौणयोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः" इस के अनुसार वैश्य और शूद्र के धर्मों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है, अर्थात् प्रलय में चारों वर्ण जिस का भक्ष्य हो जाते हैं । और मृत्यु भी जो इन सब को भक्ष्य बनाता है, स्वयं जिस का उपसेचन (आज्य) बन जाता है, अर्थात् सृष्टि के अभाव में मृत्यु भी अनावश्यक हो जाने से जिस परमात्मा में लीन हो जाता है, उस अगाद ब्रह्म को, वह ऐसा ही है, इस प्रकार कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ २५ ॥

इति द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥

अथ तृतीया वल्ली प्रारभ्यते

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥ (५५)

पदार्थः—(परमे) सब से उत्तम (परार्द्धे) हृदयाकाश में तथा (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) शरीर में (स्वकृतस्य) अपने किये कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुये (छायातपौ) अन्धकार और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन बार जिन्हों ने नाचिकेत अग्नि का सेवन किया, ऐसे कर्मकाण्डी (पञ्चाग्नयः) पञ्च यज्ञों के करने वाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वर्णन है। मनुष्य के हृदयाकाश में छाया और आतप के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों निवास करते हैं। एक इन में से अपने कर्मफल का भोक्ता और दूसरा भुगवाने वाला होने से दोनों का कर्मफल के साथ सम्बन्ध है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं कर्म या उस के फल में लिप्त नहीं होता, तथापि जीव को कर्म का फल भुगाता है। इस अपेक्षा को मान कर दोनों के लिये "पिबन्तौ" क्रिया रक्खी गई है। इस प्रकार शरीरों में दोनों आत्माओं की सत्ता केवल कर्मकाण्डी ही नहीं, किन्तु ज्ञानकाण्डी भी मानते हैं ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥२॥ (५६)

पदार्थः—(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल के समान है, उस (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यत्) जो (पारम्) भवसिन्धु के पार (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहितसाधन है, उस (परम्) सब से उत्कृष्ट (अक्षरम्) नाशरहित (ब्रह्म) परमात्मा को भी (शकेमहि) जान सकें हैं ॥ २ ॥

भावार्थः–इस कर्मनाम्ना नदी से जिस में सांसारिक लोग मज्जित होते हैं, तरने के दो मार्ग हैं। पहला यज्ञादि कर्मकाण्ड है, जो पुल के समान हमें इस नदी के पार लेजाकर विज्ञान के तट पर बिठा देता है। दूसरा ज्ञानकाण्ड है, जो हमें उस भवसागर के पार पहुंचाता है (कि जिन में यह कर्मनाम्ना नदी सहस्रधारा होकर मिलती है), जो लोग कर्मकाण्ड की उपेक्षा वा निन्दा करके ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बनना चाहते हैं, वह आंख खोल कर ज़रा इस श्लोक के आशय पर ध्यान देवें ॥ २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥ ५७ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥ ५८ ॥

पदार्थः–(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ जान (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) रश्मि जान ॥ ३ ॥ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन इन्द्रियों में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग कहते हैं (मनीषिणः) पण्डित लोग (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः–इन श्लोकों में रथ के अलङ्कार से शरीर का वर्णन किया गया है। जैसे वह रथी जिस का रथ दृढ़, सारथि चतुर, लगामें मज़बूत और खिंची हुई, घोड़े सीखे हुवे और सड़क साफ़ और सुथरी हुई है, निश्शङ्क अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुंच जाता है। ऐसे ही वह आत्मा जिस का शरीर आरोग्य, बुद्धि शुद्ध, मन अक्षुब्ध, इन्द्रियगण वश्य और उन के शब्दादि अर्थ अक्षुण्ण हैं, निर्भयता के साथ अपने प्राप्तव्य पद को पहुंचता है ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥ ५९ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥६०॥

पदार्थः—(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विषयों में लम्पट मनुष्य (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) सर्वदा-युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) सारथी के (दुष्टाश्वाः इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होते ॥ ५ ॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेकसम्पन्न (युक्तेन मनसा) समाहित मन से (सदा) सर्वदा-युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) चक्षुरादि (सारथेः) सारथि के (सदश्वाः इव) शिक्षित घोड़ों के समान (वश्यानि) वश में होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य की चित्तवृत्ति विषयों से नहीं हटी है और जिस का मन अभी अनवस्थित दशा में है, उस के इन्द्रिय दुष्ट घोड़ों के समान उसे विषयों की खाई में डाल देते हैं ॥ ५ ॥ और जो मनुष्य विवेक के शस्त्र से विषय के जाल को छिन्न भिन्न कर देता है । एवं जिस का मन सब ओर से हट कर परमार्थ में युक्त होगया है, उस के इन्द्रिय शिक्षित घोड़ों के समान उसे अपने निर्दिष्ट स्थान पर लेजाते हैं ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥६१॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥६२॥

पदार्थः—(यः, तु) जो (विज्ञानवान्) विवेकरहित (अमनस्कः) मन के पीछे चलने वाला (सदा) सर्वदा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्, पदम्) उस शान्त पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) किन्तु (संसारम्) जन्म मरण के प्रवाह को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेकसम्पन्न (समनस्कः) मन को जीतने वाला (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्धभावयुक्त (भवति) होता है (सः, तु) वह तो (तत् पदम्) उस आनन्दपद को

(आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिस से (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थः-जिस मनुष्य का मन वश में नहीं है और संस्कार तथा संसर्ग के दोषों से जिस के भाव भी मलिन हो रहे हैं, ऐसा विवेकशून्य पुरुष उस परमपद को नहीं पासकता, किन्तु इस संसार में ही जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है ॥ ७ ॥ इस के विपरीत, जो मनुष्य इस प्रबल मन को वश में करलेता है और जिस के संस्कार तथा भाव भी शुद्ध होगये हैं, ऐसा विवेकी पुरुष उस आनन्दपद को प्राप्त होता है, जिस से फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥ ६३ ॥

पदार्थः-(यः, तु) जो (नरः) मनुष्य (विज्ञानसारथिः) विवेक सारथि वाला एवम् (मनःप्रग्रहवान्) मन की लगाम को रोकने वाला है (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः-जिस मनुष्य ने विवेक को अपना सारथि बना कर मन की लगाम को मज़बूत पकड़ा हुआ है, वह उस विष्णु के परम पद को (जहां उस की यात्रा समाप्त हो जाती है) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥ ६४ ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥ ६५ ॥

पदार्थः-(इन्द्रियेभ्यः) भौतिक इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) तथा (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महान्, आत्मा) महत्तत्व (परः) सूक्ष्म है ॥ १० ॥ (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम् अव्यक्त) प्रकृति (परम्) सूक्ष्म है

(अव्यक्तात्) अव्यक्त प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ भी नहीं है (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की सीमा (सा) वही (परा गतिः) अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥

भावार्थः—इन दोनों श्लोकों में परमात्मा का सब से सूक्ष्म होना दिखलाया गया है । चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा उन के रूपादि विषय कुछ सूक्ष्म हैं । विषयों की अपेक्षा मन कुछ सूक्ष्म है और मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से उस का कारण महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से भी उस का कारण प्रकृति (जो अव्यक्त और प्रधानादि नामों से प्रख्यात है) सूक्ष्म है । इस प्रकृति से भी पुरुष (जो समस्त ब्रह्माण्डकटाह में व्यापक है) अत्यन्त सूक्ष्म है । पुरुष से परे वा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है, वही सारे जगत् की परमगति और अन्तिम सीमा है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥ (६६)

पदार्थः—(सर्वेषु, भूतेषु) सब पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) गुप्त आत्मा (न प्रकाशते) स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते) देखा जाता है ॥ १२ ॥ (६६)

भावार्थः—जिन की वृत्ति बाह्य विषयों में लीन होने से फैली हुई है, उन को वह अन्तरात्मा (जो गुप्तरूप से सब पदार्थों में ओत-प्रोत हो रहा है) नहीं दीखता किन्तु वह तो तत्त्वदर्शियों से उस सूक्ष्म बुद्धि द्वारा (जो मानसिक वृत्तियों के समाधान से प्राप्त होती है) जाना जाता है ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥ (६७)

पदार्थः—(प्राज्ञः) धीरपुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) सब ओर से हटाकर लगा देवे (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के उपकरण बुद्धि में (यच्छेत्) ठहरावे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति, आत्मनि) उस के कारण महत्तत्त्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्त्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जिज्ञासु के लिये अध्यात्मयोग का क्रम बतलाते हैं। पहले वाणी को (जो बाह्य व्यापारों को उत्पन्न करती है) मन में रोके, फिर मन को (जो भीतर ही भीतर बाह्य व्यापारों का चित्र खींचता रहता है) बुद्धि में ठहरावे। तत्पश्चात् बुद्धि को (जो बाह्य वस्तुओं का बोध कराती और उन में फंसाती है) महत्तत्व (अहङ्कार) में लीन करे और महत्तत्व को (जिस से राग द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं) उस आत्मा में (जहां सारे विकार और उपाधि शान्त हो जाते हैं) युक्त कर देवे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं
पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥ (६८)

पदार्थः—(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) अपने अभीष्टों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो—(निशिता) तीक्ष्ण (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य, धारा) छुरे की धारा के समान (कवयः) कवि लोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) दुःख से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! इस अनामय पद की प्राप्ति के लिये उठो। जागो !! महात्मा आचार्यों के उपदेश से ज्ञान को बढ़ाओ ! क्योंकि जैसे सान पर चढ़े हुवे छुरे की धार तीक्ष्ण और कठिन होती है ऐसे ही यह श्रेयमार्ग भी बड़ा दुर्गम और कठिन है। इस में कोई विरला ही मनुष्य (जो शम दमादि साधनों से युक्त है) चल सकता है ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्य-
मगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥ (६९)

पदार्थः—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्द नहीं जो कान से जाना जावे (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं, जो त्वचा से ग्रहण किया जावे (अरूपम्) रूप नहीं, जो चक्षु का विषय हो (तथा) वैसे ही (अरसम्) रस नहीं जो रसना का विषय हो (च) और (अगन्धवत्) गन्ध वाला नहीं, जो

प्राणगन्ध हो । अतएव यह (अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एकरस (अनादि) अनुत्पन्न (अनन्तम्) सीमारहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उस को (निचाय्य) सम्यक् जानकर (मृत्युमुखात्) मौत के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—जो ब्रह्म किसी इन्द्रिय का विषय न होने से अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तादिविशेषगुणयुक्त है, उस ही को जानकर मनुष्य मौत के मुंह से छूटता है । वेदभगवान् भी कहते हैं "तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अर्थात् केवल उस ही को जानकर मनुष्य मौत को जीत सकता है और कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥ (७०)

पदार्थः—(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) प्राचीन (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा) कहकर (श्रुत्वा, च) सुनकर भी (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ (७०)

भावार्थः—अब दो श्लोकों में उक्त उपाख्यान का फल वर्णन करते हैं, जो जिज्ञासु भक्ति और श्रद्धा के साथ इस उपाख्यान को (जो मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उपदेश किया है) सुनते और सुनाते हैं वे कालान्तर में ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बनकर ब्रह्म के पद को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥ (७१)

पदार्थः-(यः) जो पुरुष (प्रयतः) सावधान हो कर (इमम्) इस (परमम्, गुह्यम्) परमगुप्त आख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्राह्मणों की सभा में (वा) या (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किये जाने वाले सत्कार्य के अवसर पर (श्रावयेत) सुनावे (तत्) वह (आनन्त्याय) अनन्त फल की प्राप्ति के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-जो पुरुष इस पवित्र उपाख्यान को ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों की सभा वा श्राद्धादि सत्कर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर सुनते, सुनाते हैं, उन का आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र संस्कारों से युक्त होता हुआ अनन्त फल की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है। द्विर्वचन वीप्सा और वल्ली की समाप्ति जताने के लिये है ॥ १७ ॥

इति तृतीया वल्ली समाप्ता

अथ चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगा-
त्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥ (७२)

पदार्थः-(स्वयम्भूः) परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इस कारण मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं, (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकीपुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष को (इच्छन्) चाहता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) अन्तःकरणस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) ध्यानयोग से देखता है ॥ १ ॥

भावार्थः-अब आत्मज्ञान के प्रतिबन्धों को कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों पर गिरने वाले हैं। इस लिये इन का अनुगामी पुरुष केवल बाह्यविषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीरपुरुष ही जिस ने अपने इन्द्रियों को बाह्यविषयों से हटा लिया है, मोक्ष की इच्छा करता हुआ ध्यानयोग से उस अन्तरात्मा को देखता है ॥१॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति
विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं
विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२॥ (७३)

पदार्थः-जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्यपदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुवे (कामान्) विषयवासनाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं

(ते) वे (विततस्य) फैले हुवे (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) फांसे को (यन्ति) प्राप्त होते हैं, (अथ) और (धीराः) विवेकी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (इह) यहां (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में सुख को (न, प्रार्थयन्ते) नहीं चाहते ॥ २ ॥

भावार्थः—अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय और विषयों के संयोग होने पर वासनारूप रज्जु से आकर्षित हुवे उन पर टूट पड़ते हैं, परन्तु वे उस मृत्यु के पाश को जो इन विषयों के भीतर फैला हुआ है, उन पक्षियों के समान जो दाने के लोभ से व्याध के जाल में गिर पड़ते हैं, नहीं देख सकते। परिणाम यह होता है कि वे मृत्युरूप व्याध के खाद्य (शिकार) बनते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष जो ज्ञानदृष्टि से इस के परिणाम को देखते हैं, वह संसार के इन अनित्य पदार्थों में (जिन में सुख का आभास मात्र है, वास्तविक सुख नहीं) जी नहीं लगाते। किन्तु उस आनन्द पद की प्राप्ति के लिये जहां न शोक है न मोह, न भय है न दुःख, सर्वदा यत्न करते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ३ ॥ (७४)

पदार्थः—(येन) जिस (एतेन, एव) इस ही आत्मा की सत्ता से, प्राणी (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) रतिजन्य सुखों को भी (विजानाति) जानता है, तब (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहजाता है? (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

भावार्थः—इन्द्रियां ज्ञानोपलब्धि में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु जिस की सत्ता वा शक्ति से यह अपने नियत अर्थों को ग्रहण करती हैं वही ब्रह्म है। जब सारे प्रत्ययों का निमित्त वही है तब उस के जान लेने पर क्या शेष रह जाता है? कुछ भी नहीं। यदि कहो कि उक्त प्रत्ययों का निमित्त देहाभिमानी आत्मा है, न कि परमात्मा? तो इस का उत्तर यह है कि देहाभिमानी आत्मा भी उस आत्मशक्ति के आश्रित होने से (जो चराचर पदार्थों में व्याप्त हुई सब को नियमपूर्वक चला रही है) उक्त प्रत्ययों का स्वतन्त्र कारण नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र या अनपेक्ष्य कारण तो वही हो सकता है, जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता। सो ऐसा केवल ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥ (७५)

पदार्थः-(येन) जिस से (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जाग्रत् अवस्था के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) अनुकूल देखता है, उस (महान्तम्) सब से बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से व्याकुल नहीं होता ॥ ४ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं । संसार के समस्त व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् अवस्था के भीतर ही होते हैं । मनुष्य जाग्रत् के व्यवहारों की स्वप्न में मानसिक रचना करता है और स्वाप्न अर्थों की जाग्रत् में समालोचना करता है । बस इन्हीं के चक्र में पड़ा हुवा ठोकरें खाता है और कहीं शान्ति नहीं पाता । यह दोनों अवस्थायें जो मनुष्य को रात दिन भय और संशय के आवर्त्त में घुमा रही हैं, केवल परमात्मा की दया से ही शान्त और अनुकूल हो सक्ती हैं अर्थात् आत्मरत पुरुष प्रतिदिन इन अवस्थाओं में प्रवेश करता हुवा भी संसार के व्यवहारों में लिप्त नहीं होता, किन्तु वह सदा इन को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को इन के साथ देखता हुवा शोक से मुक्त होता है ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् । ईशानं
भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥५॥ (७६)

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोगने वाले (जीवम्) जीवात्मा के (अन्तिकात्) समीपवर्त्ती (भूतभव्यस्य) हुवे और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उस से (न, विजुगुप्सते) भय को प्राप्त नहीं होता (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मज्ञान का फल है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो जन इस कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा के समीप ही विद्यमान अर्थात् इस में अनुप्रविष्ट हुवे उस चराचर और भूत भव्य जगत् के अधिष्ठाता परमात्मा को जानते हैं, उन को फिर किस का और क्या भय हो सकता है ? कुछ भी नहीं ॥ ५ ॥

य: पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।
एतद्वै तत् ॥ ६ ॥ (७७)

पदार्थः—(यः) जो जीवात्मा (अद्भ्यः) पञ्चभूतों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुवा (तपसः) ज्ञान वा प्रकाश से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) वर्त्तमान (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) कार्य कारण के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत) देखता है (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

भावार्थः—' अद् ' शब्द यहां पञ्चभूतों का उपलक्षण है । पञ्चभूतों की उत्पत्ति से पहले ज्ञान वा प्रकाश था, वह ज्ञान और प्रकाश भी जिस से प्रकट होता है, जो कार्य और कारण दोनों में व्याप्त होकर बुद्धि में स्थित है अर्थात् बुद्धि ही जिस को जान सकती है, वही ब्रह्म है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ।
एतद्वै तत् ॥ ७ ॥ (७८)

पदार्थः—(या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्त (अदितिः) अखण्डित अर्थात् भ्रम और सन्देह से रहित बुद्धि (प्राणेन) प्राण के संयम से (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुवे (गुहाम्) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है । (एतत्, वै, तत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है ॥७॥

भावार्थः—जो बुद्धि यम नियमादि के सेवन से शुद्ध और भ्रमरहित एवं प्राण के संयम से विकाशित होती है और जो अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई शरीरादि के साथ प्रकट होती है, उस के द्वारा ही योगी लोग उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिवईड्योजागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥ (७९)

पदार्थः—(जागृवद्भिः) ज्ञानियों से (हविष्मद्भिः मनुष्येभिः) कर्मकाण्डी मनुष्यों से भी (अग्निः) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार धारण किये हुवे (गर्भ इव) गर्भ के समान तथा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदाः इव) भौतिक अग्नि के समान (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) उपासना करने के योग्य है (एतत्, वै, तत्) वही ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे अग्नि दोनों काष्ठों में व्यापक है परन्तु विना संघर्षण के उत्पन्न नहीं होता एवं गर्भिणी की कुक्षि में गर्भ विद्यमान है, परन्तु विना यथोचित आहाराचार के वह सुरक्षित नहीं रह सकता, इसी प्रकार परमात्मा भी यद्यपि सर्वत्र व्यापक है तथापि जो अपने हृदयमन्दिर में प्रतिदिन और प्रतिक्षण उस की उपासना नहीं करते, उन को वह अप्राप्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे गर्भिणी का ध्यान प्रतिक्षण गर्भ में ही लगा रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षुजनों को ब्रह्मपरायण होना चाहिये ॥ ८ ॥

> यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
> तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।
> एतद्वै तत् ॥ ९ ॥ (८०)

पदार्थः—(यतः) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र, च) जिस में ही (अस्तम्) लीन (गच्छति) हो जाता है। (तम्) उस परमात्मा को (सर्वे, देवाः) सारे देवता (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ९ ॥

भावार्थः—सब देवताओं में बड़ा और प्रधान होने से सूर्य यहां पर उपलक्ष माना गया है अर्थात् जिस के सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न होता है और उस में ही विलीन होजाता है। अन्य भी वायु आदि सारे देवता रथनाभि में अराओं की भांति जिस में अर्पित हैं अर्थात् उसी की दी हुई शक्ति से अपनी २ परिधि में काम करते हैं, वही ब्रह्म है और उस का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥(८१)

पदार्थः—(यत्) जो ब्रह्म (इह) इस जन्म में हमारे कर्मों का व्यवस्थापक है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) परजन्म में भी हमारा नियन्ता है और (यत्) जो (अमुत्र) परजन्म में हमारा ईशिता है (तत्) वह (अनु, इह) यहां पर भी अध्यक्ष है । (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्न भाव की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) पाता है ॥१०॥

भावार्थः—जैसे योनिभेद अथवा अवस्थाभेद से जीव के गुण, कर्म, स्वभाव बदल जाते हैं, ऐसे ब्रह्म के नहीं। वह तो सदा एकरस होने से जैसा अब है वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा । जो उस एक और अद्वैत ब्रह्म में नानात्व की कल्पना करते हैं अर्थात् अनेक भाव और बुद्धि उस में रखते हैं वे वारंवार मृत्यु का ग्रास बनते हैं ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥ (८२)

पदार्थः—(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) ज्ञानपूता बुद्धि से ही (आप्तव्यम्) जानने योग्य है (इह) इस ब्रह्म में (नाना) भेदभाव (किञ्चन) कुछ भी (न, अस्ति) नहीं है (यः) जो भेदवादी (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) अनेकत्व की सी (पश्यति) कल्पना करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) जाता है ॥११॥

भावार्थः—उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं । जो ब्रह्म केवल ज्ञान से पवित्र की हुई बुद्धि से जाना जाता है उस में नानात्व बुद्धि होने से मनुष्य उस सेवक की भांति जिस के कई स्वामी हों, भ्रान्ति में पड़ जाता है । इस लिये उस में नानात्व की कल्पना करने वाला अर्थात् उस में भिन्न २ बुद्धि रखने वाला कभी शान्ति को नहीं पाता ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ १२ ॥ (८३)

पदार्थः—(भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदय पुण्डरीक में रहने वाला (आत्मनि) शरीर के (मध्ये) बीच में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उस के ज्ञान से (न विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता. (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १२ ॥

भावार्थः—हृत्पुण्डरीक जो जीवात्मा का निवासस्थान है, उस का परिमाण अङ्गुष्ठ के बराबर है। यद्यपि पुरुष होने से ब्रह्म उस में बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह एकरस होने से सर्वत्र परिपूर्ण है तथापि जीवात्मा के तादात्म्य सम्बन्ध से और उस ही देश में ध्यानयोग द्वारा उस की प्राप्ति होने से शरीर के मध्य में उस की स्थिति कही गई है। इस से कोई उसे एकदेशीय न समझ बैठे क्योंकि सामान्य प्रकार से तो उस की सत्ता सभी पदार्थों में है। किन्तु हृत्पुण्डरीक में इस लिये कहा है कि वहां उस की प्राप्ति जीवात्मा को सहज है। जब जिस का जहां पर दर्शन होता है वहीं उस की स्थिति कही जाती है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्वः ।
एतद्वै तत् ॥ १३ ॥ (८४)

पदार्थः—(अङ्गुष्ठमात्रः) वही अङ्गुष्ठमात्रस्थानीय (पुरुषः) परिपूर्ण आत्मा (अधूमकः) धूमरहित (ज्योतिः, इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) अतीत और अनागत का (ईशानः) स्वामी है (सः एव) वही (अद्य) आज और (सः उ) वही (श्वः) कल है (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो केवल प्रकाशमय है, जिस में अन्धकार का लेश नहीं, वही हृदयेश्वर पुरुष भूत और भविष्यत् का स्वामी है। जो होकर न रहे, उसे भूत कहते हैं और जो न होकर होवे वह भविष्य है। आत्मा जो कि सर्वदा एक रस है, इस लिये भूत या भविष्य के बन्धन में नहीं आ सकता और जो जिस के बन्धन में नहीं है, वही उस का ईशान (स्वामी) है ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥ (८५)

पदार्थः—(यथा) जैसे (दुर्गे) विषमदेश में (वृष्टम्) वर्षा हुवा (उदकम्) जल (पर्वतेषु) निम्नस्थलों में (विधावति) बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को गुणी से, (पृथक्) अलग (पश्यन्) देखता हुवा (तान्, एव) उन्हीं गुणों का (अनुविधावति) अनुधावन करता है ॥१४॥ (८५)

भावार्थः—जैसे जल का स्वभाव नीचे बहने का है। ऐसे ही गुण अपने गुणी का अनुधावन करते हैं अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गुण सदा अपने गुणी में रहते हैं। जो मनुष्य गुणों को गुणी से पृथक् जानता है अर्थात् गुण में ही द्रव्य बुद्धि रखता है वह आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु उन गुणों में ही रमण करता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥ (८६)

पदार्थ—हे (गौतम) नचिकेतः ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ और समदेश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुवा (तादृग्, एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) जानने वाले (मुनेः) मननशील का (आत्मा) ज्ञाता (भवति) होता है ॥१५॥ (८६)

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गोतम के पुत्र ! जैसे स्वच्छ और समधरातल भूमि में सींचा हुवा जल तद्वत् हो जाता है, ऐसे ही विज्ञानी पुरुष का आत्मा सरल और समदर्शी होजाता है अर्थात् जल में मलिनता और कुटिलता तभी तक है जब तक वह शुद्ध और समभूमि में प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा में भी मालिन्य और कौटिल्य तभी तक रहता है, जब तक वह उस शुद्ध और शान्त ब्रह्म का आश्रय नहीं लेता ॥१५॥

इति चतुर्थी वल्ली समाप्ता
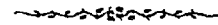
अथ पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय
न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥१॥ (८७)

पदार्थः--(अवक्रचेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न जीवात्मा के (एकादशद्वारम्) ग्यारह दरवाज़े वाले (पुरम्) शरीर को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं शोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुवा (विमुच्यते) छूटता है (एतत्, वै, तत्) यही उस विज्ञान का फल है ॥१॥

भावार्थः--जो राजा अपने पुर के दरवाज़ों को (जिन में होकर नगर में प्रवेश किया जाता है) दृढ़ और सुरक्षित रखता है, उस को शत्रु का भय नहीं होता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस ग्यारह दरवाज़े* वाले शरीर को वर्णाश्रमसम्बन्धी धर्म के पालन और अनुष्ठान से दृढ़ और पवित्र बना लेते हैं, वे तीनों ऋणों से § मुक्त होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-
र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥ (८८)

पदार्थः--(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा (शुचिषद्) शुद्धदेश में स्थित (वसुः) अनेक योनियों में वास करने वाला (अन्तरिक्षसत्) हृदयाकाश में स्थित (होता) यज्ञादि का सेवन करने वाला (वेदिषत्) स्थलचारी (अतिथिः) अभ्यागत के समान एकत्र स्थिति न रखने वाला (दुरोणसत्) कुटीचर (नृषत्) मनुष्यशरीरधारी (वरसत्) देव और ऋषि शरीरधारी (ऋतसत्) ब्रह्म अथवा सत्य में प्रतिष्ठित (व्योमसत्) नभश्चारी (अब्जाः) जलचर (गोजाः) पृथिवी में उत्पन्न होने वाले वनस्पत्यादि (ऋतजाः) यज्ञिय ओषध्यादि (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला भी (ऋतम्, बृहत्) अपने स्वरूप से अविचल है ॥ २ ॥

भावार्थः--जीवात्मा अपने कर्मानुसार अनेक गतियों को प्राप्त होता है, वही इस श्लोक में दिखलाई गई हैं। कहीं यह स्थलचर होकर पृथिवी में विचरता है और कहीं जलचर होकर जल में निवास करता है। एवं कहीं

* शरीर के ग्यारह दरवाज़े ये हैं:--दो आंख के, दो कान के, दो नाक के, एक मुंह का, एक वायु का, एक उपस्थ का, एक नाभि का और एक कपाल का ॥

§ तीन ऋण ये हैं:--१ देवऋण, २ ऋषिऋण और ३ पितृऋण ॥

नश्वर होकर आकाश में गमन करता है। कहीं वनस्पति और ओषध्यादि में आकर प्रकट होता है और कहीं मनुष्य, देव, ऋषि आदि के शरीर में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यद्यपि कर्मानुसार जीवात्मा अनेक योनियों को प्राप्त होता और भिन्न २ दशाओं का अनुभव करता है, तथापि अपने स्वरूप से नित्य और अपरिणामी है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवाउपासते ॥ ३ ॥ (८९)

पदार्थः—जो साधक (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) हृदय से ऊपर मस्तक में (उन्नयति) लेजाता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) हृदय से नीचे उदर में (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच में (आसीनम्) स्थित (वामनम्) सेवनीय जीवात्मा को (विश्वे, देवाः) समस्त प्राण और इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—कण्ठ और नाभि के बीच में हृत्पुण्डरीकदेश है, वहां जीवात्मा अपने परिवद्वर्गसहित विराजमान है। वहां उस की सेवा में समस्त प्राण और इन्द्रिय (जैसे भृत्यगण अपने स्वामी की सेवा में तत्पर होते हैं) तत्पर हैं। प्राण वायु को हृदय से ऊपर और अपान वायु को नीचे लेजाने से आत्मा को अवकाश मिलता है, जिस में वह उस प्रकाश को देखता है, जिस से यह सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ।
एतद्वै तत् ॥ ४ ॥ (९०)

पदार्थः—(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीरस्थ (देहिनः) आत्मा के (विस्रंसमानस्य) विध्वंस होते हुवे अर्थात् (देहात्) देह से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुवे (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहा जाता है (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो जिस के होने से होता और न होने से नहीं होता वह उसी का समझा जाता है। यह अस्मदादि का शरीर प्राण एवं इन्द्रियकलाप

सहित आत्मा की विद्यमानता से ही विचेष्टित होता है। जब आत्मा इस विशरण होने वाले शरीर से पृथक् हो जाता है, तब इस में कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् न प्राण चेष्टा कर सकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकती हैं अर्थात् सारी शक्तियां और उन के काम इन के शरीर से अलग होते ही बन्द हो जाते हैं। अतः आत्मक ही शरीर अन्तज्ञान की प्राप्ति का भी साधन हो सकता है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥ (९१)

पदार्थः–(कश्चन) कोई भी (मर्त्यः) मनुष्य (न, प्राणेन) न प्राण से (न, अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिस में (एतौ) यह दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं (इतरेण) उस प्राण अपान से भिन्न आत्मा से (जीवन्ति) जीते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः–प्राण और अपान से कोई प्राणी नहीं जीता क्योंकि ये अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु ये सब जिस के आश्रित हैं अर्थात् जिस के होने से अपनी २ क्रिया करते हैं और न होने से नहीं, वही इन सब का अधिष्ठाता आत्मा है और उसी से सब प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥५॥

हन्त तइदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ! ॥६॥ (९२)

पदार्थः–हे (गौतम) गौतमवंशोत्पन्न ! (हन्त) कृपापूर्वक (ते) तेरे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातनम्) अनादि (ब्रह्म) आत्मा को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः–मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम ! मैं तेरे लिये उस सनातन ब्रह्म का उपदेश करूंगा, जिस के जानने से मनुष्य मुझ को जीत लेता है और उस को न जानने की दशा में जिस प्रकार यह जीवात्मा बार बार मेरे वश में होकर जन्म धारण करता है, वह भी तेरे प्रति कहता हूं ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥ (९३)

पदार्थः-(अन्ये) कोई (देहिनः) प्राणी (यथाकर्म, यथाश्रुतम्) अपने २ कर्म और तज्जनित वासनाओं के अनुसार (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (योनिम्) जङ्गम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) कोई घोरपापाचारी (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) मरणानन्तर प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः-जो जन ब्रह्मज्ञान से विमुख हैं वे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की रज्जु में बन्धे हुवे नाना प्रकार की जाति, आयु और भोगरूप फलों को प्राप्त होते हैं। जिन के शुभकर्म अधिक हैं वे देवत्व वा ऋषित्व को, जिन के शुभाऽशुभ दोनों बराबर हैं वे मनुष्यत्व को और जिन के अशुभकर्म अधिक हैं वे तिर्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं। जब तक वे उस शुद्ध और निर्विकल्प पद के अधिकारी नहीं बनते तब तक इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में घूमते हैं ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥ (९४)

पदार्थः-(यः, एषः) जो यह अन्तर्यामी (पुरुषः) सब में व्याप्त (कामं, कामम्) यथेच्छ (निर्मिमाणः) सब जगत् को रचता हुवा (सुप्तेषु) सोते हुवे जीवों में (जागर्ति) जागता है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) शुद्ध (तद्, ब्रह्म) वही सब से बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अपरिणामी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुवे हैं (तद्, उ) उस को (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः-अब इस श्लोक में पुनः परमात्मा का वर्णन है। जो पुरुष त्रिगुणात्मक प्रकृति से सारे जगत् को निर्माण करता हुवा सत, रज, तम इन तीन गुणों का यथायोग्य विभाग करता है और आप इन गुणों में लिप्त नहीं होता तथा उक्त गुणों की शय्या में सोते हुवे जीवात्माओं को भी कर्मानुसार फल देकर जो जागता रहता है, वही शुद्ध और सनातन ब्रह्म है।

उसी में यह पृथिव्यादि समस्त लोक आश्रित हैं। उस का कोई भी पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सका ॥ ८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ (९५)

पदार्थः—(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक ही भौतिक अग्नि (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुवा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) उन के रूपादि धर्मों से वह पृथक् है ॥ ९ ॥

भावार्थः—अब अग्नि के दृष्टान्त से परमात्मा की व्यापकता का निरूपण करते हैं। जैसे एक ही अग्नि भिन्न २ पदार्थों में प्रविष्ट हुवा तत्तदाकार में प्रतिभासित होता है, वस्तुतः अग्नि उन से पृथक् है। इसी प्रकार वह अन्तर्यामी आत्मा भी सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक हुवा अज्ञानी पुरुषों को तत्तदाकारवान् सा प्रतीत होता है। वास्तव में वह उन से अत्यन्त भिन्न व विलक्षण है ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥ (९६)

पदार्थः—(यथा) जैसे (एकः, वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुवा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का आत्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) वह उन से पृथक् है ॥ १० ॥

भावार्थः—अब उसी आत्मसत्ता को वायु के दृष्टान्त से निरूपण करते हैं। इस का आशय भी पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥ (९७)

पदार्थः-(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आंख है । पर (चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः) चक्षुःसम्बन्धी बाह्यदोषों से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता (तथा) ऐसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी आत्मा (बाह्यः) उन से अलग (लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भावार्थः-अब इसी विषय को सूर्य के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं । जैसे सूर्य दर्शनहेतु होने से सारे जगत् की आंख है अर्थात् सूर्य के ही प्रकाश से अस्मदादि की आंखें भी प्रकाशित होती हैं । आंखों में व्याप्त हुवा भी सूर्य का प्रकाश आंखों के दोषों से दूषित नहीं होता । इसी प्रकार समग्र संसार में व्याप्त हुवा आत्मा भी सांसारिक दोषों में लिप्त नहीं होता, किन्तु सदा उन से पृथक् रहता है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥ (९८)

पदार्थः-(एकः) एक (वशी) सब जगत् को वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी है (यः) जो (एकं रूपम्) समष्टि रूप से एक प्रधान कारण को (बहुधा) व्यष्टिरूप से नाना प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित परमात्मा को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वतम्) सनातन (सुखम्) मुक्ति का सुख प्राप्त होता है (इतरेषाम्, न) अन्य संसारी पुरुषों को नहीं ॥ १२ ॥

भावार्थः-जो एक इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने अटल नियमों से चला रहा है, जिस की आज्ञा वा नियम के विरुद्ध कोई काम जगत् में नहीं हो सकता और न कोई पदार्थ जिस का अतिक्रमण कर सकता है, जो सृष्टि

की आदि में एक प्रकृति को नाना नाम रूपों में परिणत करके इस कार्यरूप जगत् को विस्तार देता है। उस अन्तर्यामी रूप से सब में अवस्थित परमात्मा को ध्यानयोग से जो धीर पुरुष देखते हैं वह मुक्ति को प्राप्त होकर उस परमानन्द का अनुभव करते हैं, जिस को संसारी पुरुष कदापि उपलब्ध नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो
विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥ (९९)

पदार्थः–(अनित्याम्) अनित्य पदार्थों में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में भी (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतमों में (एकः) एक है (यः) जो जीवों के प्रति (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) अन्तर्यामी को (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वती शान्तिः) परमशान्ति है (इतरेषाम्, न) औरों को नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः–जो परमात्मा अनित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतमों में एक है और जो जीवों के लिये यथायोग्य कर्मफलों का विधान करता है। उस को जो ध्यानयोग से देखते हैं वे परम शान्ति के भागी बनते हैं, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परं सुखम्।
कथन्नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥ (१००)

पदार्थः–जिस (परमं, सुखम्) परमानन्द को (तत्, एतत्, इति) "वह यह है" इस प्रकार (अनिर्देश्यम्) अङ्गुली निर्देश से कहने अयोग्य (मन्यन्ते) मानते हैं (तत्) उस को (कथंनु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं (किमु, उ) क्या वह (भाति) प्रकाशित होता है (वा) या (विभाति) स्वयं प्रकाश करता है ॥ १४ ॥

भावार्थः–जो सुख अनिर्देश्य है अर्थात् "वह यह है" इस प्रकार अङ्गुली से निर्देश नहीं किया जा सकता, उस को हम किस प्रकार जान सकते हैं?

क्या वह ब्रह्म जो उस आनन्द का कारण माना जाता है, प्रकाश के तुल्य प्रकाशित होता है अथवा सूर्यादि के सदृश स्वयं भासमान है? यह प्रश्न है ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥ (१०१)

पदार्थः—(तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाश कर सकता (न, चन्द्रतारकम्) चन्द्र और तारागण का प्रकाश भी वहां मन्द पड़ जाता है (इमाः विद्युतः) यह बिजलियां भी (न, भान्ति) वहां नहीं चमक सकतीं (अयम्) यह (अग्निः) भौतिक अग्नि (कुतः) कहां से प्रकाश करे, किन्तु (तम्, एव, भान्तम्) उस ही स्वयं प्रकाशमान से (सर्वम्) सब सूर्यादि (अनुभाति) प्रकाशित होते हैं (तस्य) उस के (भासा) प्रकाश से (इदं, सर्वम्) यह सब (विभाति) स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—इस से पहले श्लोक में पूछा गया था कि वह ब्रह्म सूर्यादि के समान प्रकाशित होता है अथवा स्वयं प्रकाश है । इस श्लोक में उस का उत्तर दिया जाता है कि उस ब्रह्म में यह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजुली आदि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते फिर अग्नि की तो कथा ही क्या है किन्तु ये सब सूर्यादि उसी से प्रकाशित होकर प्रकाशक बनते हैं, वह स्वयं प्रकाश होने से किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि प्रलय में भी जब सूर्यादि का प्रकाश नहीं रहता, वह हिरण्यगर्भरूप से (जिस से सारे प्रकाश उत्पन्न होते हैं) अवस्थित रहता है ॥ १५ ॥

इति पञ्चमी वल्ली समाप्ता

अथ षष्ठी वल्ली प्रारभ्यते

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥ (१०२)

पदार्थः (ऊर्ध्वमूलः) ऊपर को मूल है जिस का (अवाक्शाखः) नीचे को शाखा हैं जिस की, ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) अनित्य संसाररूप वृक्ष (सनातनः) प्रवाह से अनादि है । उक्त अनित्य परन्तु अनादि वृक्ष जिस के आधार में स्थित है यह ब्रह्म (तद्, एव, शुक्रम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥१॥

भावार्थः-कार्य के देखने से कारण का ज्ञान होता है इस लिये इस कार्यरूप जगत् को अधिष्ठान मानकर इस के अधिष्ठाता ब्रह्म का निरूपण किया जाता है । इस समस्त सृष्टि में मनुष्य के प्रधान होने से उस के ही शरीर का वृक्षालङ्कार से वर्णन करते हैं । जैसे वृक्ष का मूल नीचे को और शाखा ऊपर को होती हैं, इस के विपरीत इस मनुष्य शरीररूप वृक्ष का मूल अर्थात् शिर नीचे को और हस्त पादादि शाखायें ऊपर को होती हैं । अश्वत्थ इस को इस लिये कहा गया है कि यह कल को ठहरेगा या नहीं इस का कुछ भी भरोसा नहीं । सनातन इस लिये है कि प्रवाह से अनादि है अर्थात् जगत् के साथ २ यह भी चला आता है । बस यह मनुष्यशरीर जिस में प्रधान है ऐसे इस विचित्र जगत् को रचकर जिस ने अपनी अमित महिमा का प्रकाश किया है वह ब्रह्म है, उसी में यह सारा संसार ठहरा हुवा है । उस के नियमों का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥ १ ॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥ (१०३)

पदार्थः-(यत्, किञ्च) जो कुछ (जगत्) संसार है (इदम्, सर्वम्) यह सब (प्राणे) परमात्मा की विद्यमानता में (एजति) चेष्टा करता है और उसी से (निस्सृतम्) उत्पन्न हुवा है, वह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में लिये हुवे शस्त्र के समान (महद्भयम्) भय का हेतु है (ये) जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु से रहित (भवन्ति) होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः-यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसी के भय से संसार के समस्त पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं कोई उस की मर्यादा को जो सर्गारम्भ में उसने स्थापित की है, उल्लङ्घन नहीं कर सकता । इस प्रकार जो उस की सत्ता और महिमा को जानते हैं वे मृत्यु को जीत कर अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥ (१०४)

पदार्थः-(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलता है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है (भयात्, च) भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) पवन चमकते और चलते हैं तथा (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) काल (धावति) दौड़ता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-अब ब्रह्म की भयहेतुता दिखलाते हैं । अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु ये पांचों उसी के भय से निरन्तर अपना २ काम कर रहे हैं । हमारे पाठक यहां भय शब्द को देख कर चौंकेंगे और अपने मन में कहेंगे कि क्या अग्नि आदि जड़ पदार्थ भी किसी से डरा करते हैं? इस का उत्तर यह है कि यहां पर भय शब्द केवल इन की नियमानुकूलता जतलाने के लिये प्रयुक्त हुवा है, न कि अस्मदादि के समान भय से शङ्कित वा व्यथित होने में ॥ ३ ॥

इह चेदशकद्बोद्धुम्प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥ (१०५)

पदार्थः-(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहिले (बोद्धुम्) जानने को (अशकत्) समर्थ होवे तो संसार के बन्धन से छूट जाता है, नहीं तो (ततः) आत्मा के न जानने से (सर्गेषु, लोकेषु) विरचित लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने से पूर्व ही उस भय के कारण ब्रह्म के जानने में समर्थ होते हैं, वे भय से मुक्त हो जाते हैं । इतर अज्ञानी पुरुष वारम्वार सृष्टि में जन्म धारण कर मृत्यु आदि के भय से कांपते रहते हैं ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥ (१०६)

पदार्थः—(यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में प्रतिबिम्ब दीखता है (तथा) तैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा प्रतिभासित होता है (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में जाग्रत् वासनोद्भूत संस्कार अविस्पष्ट होते हैं (तथा) तैसे (पितृलोके) सकाम कर्म करने वालों में आत्मा का दर्शन अविविक्त है (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) चारों ओर से स्पष्ट अवयव (ददृशे) दीखते हैं (तथा) तैसे (गन्धर्वलोके) विज्ञानी पुरुषों में आत्मा का दर्शन स्पष्टरूप से होता है । (छायातपयोः, इव) छाया और आतप के समान विस्पष्ट (ब्रह्मलोके) मुक्ति दशा में ब्रह्म का दर्शन होता है॥५॥

भावार्थः—जैसी और जितनी स्पष्टप्रतिबिम्ब देखने के लिये स्वच्छ आदर्श की आवश्यकता है, वैसी और उतनी ही पवित्र आत्मा का दर्शन करने के लिये निर्मल एवं शुद्धभाव से भावित अन्तःकरण की अपेक्षा है । जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रत् के व्यवहार स्पष्टरूप से नहीं दीखते । इसी प्रकार सकाम कर्म करने वालों को यथार्थरूप से आत्मा का दर्शन नहीं होता । जैसे जल में प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखता है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुषों को स्पष्टरूप से आत्मा का दर्शन होता है और जैसे छाया और आतप भिन्न २ और स्पष्ट अवगत होते हैं । इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्म और प्रकृति (जिसे माया भी कहते हैं) का भेद और स्वरूप स्पष्टतया अवगत होता है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥ (१०७)

पदार्थः—(पृथगुत्पद्यमानानाम्) अपने २ रूपादि अर्थों को ग्रहण करने के लिये अपने २ आग्न्यादि कारण से पृथक् २ उत्पन्न हुवे (इन्द्रियाणाम्) चक्षुरादि इन्द्रियों का उस चेतनस्वरूप आत्मा से (पृथक्, भावम्) अत्यन्त पार्थक्य है (यत्) जो (उदयास्तमयौ) उत्पत्ति और विनाश एवं प्रादुर्भाव, तिरोभाव आदि धर्म भी शरीर और इन्द्रियों के ही हैं, आत्मा के नहीं । इस प्रकार (मत्वा) जान कर (धीरः) विवेकी (न,शोचति) शोक नहीं करता ॥६॥

भावार्थः—जो लोग देहेन्द्रिय के व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं मानते, वे देहादि के नाश में अपना विनाश समझते हुए रात दिन शोकसागर में डूबे

रहते हैं और यह समझते हैं कि मरते ही सारे सुखों का विलोप हो जायगा। इस के विपरीत जो आत्मा को शरीर और इन्द्रिय तथा इन के उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् समझते हैं, वे शोक से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥ (१०८)
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥ (१०९)

पदार्थः-(इन्द्रियेभ्यः) शब्दादि अर्थ और उन के ग्राहक श्रोत्रादि इन्द्रियों से (मनः) उन का प्रेरक मन (परम्) सूक्ष्म है (मनसः) मन से (सत्त्वम्) सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि (उत्तमम्) उत्तम है (सत्त्वात्) बुद्धि से (अधि) ऊपर (महान्, आत्मा) महत्तत्त्व है (महतः) महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्) प्रकृति-नामक प्रधान कारण (उत्तमम्) सूक्ष्म है ॥ ७ ॥ (अव्यक्तात्) सब के उपादान कारण प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) सब में व्यापक (च) और (अलिङ्गः, एव) जिस का कोई चिह्न नहीं, ऐसा (पुरुषः) परमात्मा (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (मुच्यते) छूट जाता है (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः-इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से प्रकृति और प्रकृति से भी अत्यन्त सूक्ष्म वह ब्रह्म है, जो सब में व्यापक और लिङ्ग वर्जित है, उस ही को जानकर प्राणी देहादि बन्धन से छूटकर मुक्त होता है ॥ ८ ॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥ (११०)

पदार्थः-(अस्य) इस अचिन्त्य और अव्यक्त ब्रह्म का (सन्दृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न, तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इस को (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आंख आदि इन्द्रियों से (न, पश्यति) नहीं देख सकता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभि-

क्षुमः) प्रकाशित हुवा जाना जासकता है। (ये) जो (एतत्) इस को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं॥९॥

भावार्थः-जब वह ब्रह्म अलिङ्ग और अव्यक्त है, तब उस का दर्शन कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष में उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके। इस लिये स्थूलदृष्टि से कोई पुरुष उस को नहीं देख सकता। हां अन्तःस्थ बुद्धि की मननात्मिका वृत्ति से (जो समस्त सङ्कल्प विकल्पों के शान्त होने से उत्पन्न होती है) इस आत्मज्योति का दर्शन होता है। इस प्रकार जो योगी लोग उस ब्रह्म का दर्शन करते हैं, वे अमृत होकर सदा आनन्द पद में रमण करते हैं॥९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥१०॥ (१११)

पदार्थः-(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पांच ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) विरुद्ध वा विविध चेष्टा नहीं करती (ताम्) उस को विद्वान् लोग (परमां, गतिम्) सब से उत्कृष्ट मुक्ति की दशा (आहुः) कहते हैं॥१०॥

भावार्थः-वह मनीषा बुद्धि क्योंकर प्राप्त हो सकती है? यह कहते हैं। जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मनसहित ठहर जाती हैं अर्थात् अपने २ विषयों से उपरत होकर निस्तब्ध हो जाती हैं और बुद्धि भी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है, उस को योगीजन परमगति कहते हैं॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥११॥ (११२)

पदार्थः-(ताम्) उस (स्थिराम्) अचल (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों के रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब (अप्रमत्तः) प्रमादरहित (भवति) होता है (हि) जिस कारण (योगः) यह योग (प्रभवाप्ययौ) शुद्ध और शुभ संस्कारों का प्रवर्तक तथा अशुभ और मलिन संस्कारों का निवर्तक है॥११॥

भावार्थः-उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं। पातञ्जल-शास्त्र में भी योग का यही लक्षण किया गया है-"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्त की वृत्तियों को जो इन्द्रियों के द्वारा बहिर्गत होती हैं, रोकने का नाम योग है। इस योग दशा को प्राप्त होकर मनुष्य विषयों से उदासीन हो जाता है और उस का हृदय शुद्धभाव और पवित्र संस्कारों से भावित होकर मलिन और नीच संस्कारों से शून्य हो जाता है ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥ (११३)
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥ (११४)

पदार्थः-(न, चक्षुषा) न आंख से (न, मनसा) न मन से (नैव, वाचा) न वाणी से ही (प्राप्तुं, शक्यः) पाने योग्य है (अस्ति, इति) है, ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुवे पुरुष से (अन्यत्र) अतिरिक्त (तत्) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥ (उभयोः) अस्ति, नास्ति इन दोनों में (तत्त्वभावेन) तत्त्व की भावना से (अस्ति, इति, एव) है, ऐसा ही (उपलब्धव्य) जानना चाहिये (अस्ति, इति, एव) है, ऐसा ही (उपलब्धस्य) जानने वाले को (तत्त्वभावः) तत्त्वभाव (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः-वह ब्रह्म न तो वाणी से और न चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। इसी लिये वह आगम पर श्रद्धा न रखने वाले केवल प्रत्यक्षवादियों को उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जिन का "है" ऐसा उस पर विश्वास है, वही उस को जान सकते हैं। है और नहीं है। इन दोनों में से "नहीं है" ऐसा जो विश्वास रखते हैं, वह इस जगत् को निर्मूल और निराधार मानते हैं, जो कभी हो नहीं सकता। इस लिये "है" ऐसा विश्वास रखकर ही उस को पाना चाहिये क्योंकि उस के विना कभी तत्त्वों की सफलता अर्थात् जड़ परमाणुओं में कार्य बनने की योग्यता स्वयमेव हो ही नहीं सकती ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥ (११५)

पदार्थः–(यदा) जब (सर्वे, कामाः) सम्पूर्ण काम और उन की वासनायें (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) वसी हुई हैं (प्रमुच्यन्ते) छूटती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) इस दशा में (ब्रह्म) परम पुरुष को (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः–जब सारी कामनायें और उन की वासनायें जो चिरकालीन संस्कारों से जीवात्माओं के हृदय में वसी हुई हैं, आत्मोपलब्धि से विशीर्ण हो जाती हैं, तब यह मनुष्य मुक्त होता है क्योंकि वासना रज्जु के कट जाने से फिर कोई बन्धन का हेतु नहीं रहता । इस दशा में आत्मदर्शन की पूरी २ योग्यता इस को प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥ (११६)

पदार्थः–(यदा) जब (इह) इस संसार में (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे ग्रन्थयः) सारी गांठें (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) शास्त्र का उपदेश है ॥ १५ ॥

भावार्थः–कामनाओं की जड़ कब उखड़ती है? यह कहते हैं । जब इस मनुष्य के हृदय की–यह शरीर मेरा है, धन मेरा है, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं; इत्यादि प्रकार के असत् प्रत्ययों को उत्पन्न कराने वाली सारी गांठें (जो अविद्या से पड़जाती हैं) विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान के शस्त्र से छिन्न भिन्न हो जाती हैं, तब यह मनुष्य कामनाओं के जटिल एवं गहनचक्र से निकल कर मुक्त होजाता है । बस यही शास्त्रों का साररूप उपदेश है ॥१५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धान-
मभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥ (११७)

पदार्थः—(हृदयस्य) हृदय की (शतम्, एका च) एक सौ एक (नाड्यः) नाड़ी हैं (तासाम्) उन में से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तक में (अभिनिस्सृता) जा निकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) मस्तक के छिद्र से (आयन्) निकलता हुवा जीवात्मा (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य शत नाड़ियें (उत्क्रमणे) प्राण के निकलने में (विष्वङ्) नानाविध गतियों की हेतु (भवन्ति) होती हैं ॥१६॥

भावार्थः—योगियों के प्राण कैसे निकलते हैं ? यह कहते हैं । मनुष्य के हृदय में सब एक सौ एक नाड़ियां हैं, उन्हीं की शाखा प्रशाखायें सारे शरीर में फैली हैं । उन में से एक नाड़ी (जो सुषुम्णा के नाम से प्रख्यात है) हृदय से सीधी मस्तक को चली गई है । योगियों के प्राण इसी नाड़ी के द्वारा मस्तक के छिद्र में होकर निकलते हैं, जिस से वे पुनः संसार में लौट कर नहीं आते । इस के विपरीत जो आत्मतत्त्व से बहिर्मुख हैं, ऐसे संसारी जन अन्य नाड़ियों के द्वारा अन्य शरीर के छिद्रों से प्राण छोड़ कर नानाविध योनियों में घूमते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां
हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मु-
ञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं
तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥ (११८)

पदार्थः—(अन्तरात्मा) जो अन्तस्थ आत्मा (पुरुषः) शरीर में व्यापक (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला है, वह (सदा) निरन्तर (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) अवस्थित है (तम्) उस को (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्, इषीकाम्, इव) मूंज से जैसे सींक को निकालते हैं, ऐसे (स्वात्, शरीरात्) अपने शरीर से (प्रवृहेत्) पृथक् करे (तम्) उस को (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ॥ १७ ॥

भावार्थः—अब ग्रन्थ का उपसंहार करता हुवा कहता है । मनुष्य को सब से अधिक अपना शरीर प्रिय है, इसी से उस में राग भी अधिक है अर्थात् वह उपात्त शरीर को किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता किन्तु

छोड़ने के नाम से उस को दुःख और उद्वेग उत्पन्न होता है। बस यही बड़ा भारी बन्धन है, जिस में फंसा हुवा मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। इस लिये मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनैः २ शरीर के बन्धन से पृथक् करे। इस का यह आशय नहीं है कि आत्मघात कर डाले। नहीं २ किन्तु शरीर के होते हुवे उन के सुख दुःखादि धर्मों से आत्मा को पृथक् समझे अर्थात् शरीर मलायतन होने से अपवित्र और अनित्य होने से अपायी है, परन्तु आत्मा असङ्ग होने से शुद्ध और नित्य होने से अविनाशी है। इस लिये वह शरीर और उस के धर्मों में लिप्त नहीं होता। ऐसा समझने ही से मनुष्य बन्धनों को काट सकता है, अन्यथा नहीं ॥१७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्। ब्रह्म प्राप्तो विरजो-ऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥ (११९)

पदार्थः–(अथ) अब इस का फल दिखाते हैं (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां, विद्याम्) इस विद्या को (च) और (कृत्स्नम्, योग-विधिम्) सम्पूर्ण योगविधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेतः) नचि-केता (ब्रह्म, प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुवा और (विरजः) विरक्त (विमृत्युः) मृत्युभय से रहित (अभूत्) हुवा (अन्यः, अपि) अन्य भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) अध्यात्मविद्या को ही (एवं, विद्) इस प्रकार जानता है, वह भी संसार से विरक्त होकर मृत्युरहित हो जाता है ॥ १८ ॥

भावार्थः–अब इस विद्या का फल वर्णन करते हैं। मृत्युप्रोक्त इस विद्या को सम्पूर्ण योगविधिसहित प्राप्त होकर नचिकेता संसार से विरक्त और जीवन्मुक्त हुवा। अन्य भी जो इस अध्यात्मविद्या को इस प्रकार प्राप्त होगा वह संसार के सब बन्धनों से छूटकर ब्रह्म के अनामय पद को प्राप्त होगा ॥१८॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥ १९ ॥ (१२०)

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पदार्थः—परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों की (सह) एक साथ (अवतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) साथ २ (भुनक्तु) पालन करे। हम दोनों (वीर्यम्) आत्मिकबल को (सह) साथ २ (करवावहै) प्राप्त करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) प्रभावोत्पादक वा फलदायक (अस्तु) हो। हम दोनों (मा, विद्विषावहै) कभी आपस में द्वेष न करें और ईश्वर की कृपा से हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के ताप शान्त हों ॥ १९ ॥

भावार्थः—अब अन्त में प्रमादकृत दोषों की शान्ति के लिये गुरु शिष्य दोनों ईश्वर की प्रार्थना करते हैं-हे परमात्मन् ! हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये। आप की कृपा से हम दोनों अपने आत्मिकबल को साथ २ बढ़ावें तथा हमारा पढ़ा पढ़ाया और सुना सुनाया सब फलदायक हो और कभी हम आपस में द्वेष न करें। एवं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापों से सदा हमारी रक्षा कीजिये। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति षष्ठी वल्ली समाप्ता

इति श्री बद्रीदत्तशर्मकृता कठोपनिषद्भाषावृत्तिः समाप्ता

—:o✱o:—

भूमिका

यह प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इस में सुकेशा आदि ६ ऋषिपुत्रों ने (जो ब्रह्मविद्या के परम जिज्ञासु थे) पिप्पलाद ऋषि के समीप जाकर क्रमशः ६ प्रश्न किये हैं, इस लिये इस उपनिषद् का ही प्रश्न नाम पड़गया। उक्त छहों प्रश्नों में पहिले तीन प्रश्न अपराविद्या विषयक हैं और पिछले तीन पराविद्या विषयक। जो कि अपराविद्या का ज्ञान हुवे विना पराविद्या में प्रवेश दुस्तर है, इस लिये दीर्घदर्शी आचार्य ने प्रथम प्रश्न में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन किया है। दूसरे और तीसरे में प्राकृतपदार्थों में सर्वोपरि प्राण का माहात्म्य दिखलाते हुवे अपानादि उस के विभागों का वर्णन किया है। चौथे में उस के निमित्त आत्मा का (जहां से पराविद्या का आरम्भ होता है) निरूपण किया है। पांचवें में वाचक प्रणव और छठे में वाच्य ब्रह्म का अनुशासन करते हुवे इस उपनिषद् की समाप्ति की है। अनुवाद की मूलपरता और सरलता का अनुभव पाठक स्वयं करेंगे, उस के विषय में कुछ लिखना हमारा काम नहीं है। यह चौथी उपनिषद् है, जो हमारे अनुवाद से परिवर्द्धित होकर विद्यारसिकों के दृष्टिगोचर होती है॥

अनुवादक

ओ३म्

—*(अथ)*—

प्रश्नोपनिषत् प्रारभ्यते

तत्र प्रथमः प्रश्नः

—:o:—

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

पदार्थः—(सुकेशा, च, भारद्वाजः) भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, (शैब्यः, च, सत्यकामः) शिवि का पुत्र सत्यकाम, (सौर्यायणी, च, गार्ग्यः) सौर्य ऋषि का पुत्र गर्गकुलोत्पन्न गार्ग्य, (कौशल्यः, च, आश्वलायनः) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (भार्गवः, वैदर्भिः) भृगुकुलोत्पन्न विदर्भि का पुत्र वैदर्भि, (कबन्धी, कात्यायनः) और कत्य का युवापुत्र कात्यायन कबन्धी (ते, ह, एते, ब्रह्मपराः, ब्रह्मनिष्ठाः) वे ये ब्रह्म में तत्पर और ब्रह्मनिष्ठ (परं, ब्रह्म, अन्वेषमाणाः) परब्रह्म का अन्वेषण करते हुवे (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (तत्, सर्वम्. वक्ष्यति, इति) जो हमारा अभीष्ट है, उस सब को कहेगा, इस आशा से (ते, ह, समित्पाणयः) वे प्रसिद्ध समिध् हाथ में लिये हुवे (भगवन्तं, पिप्पलादम्) भगवान् पिप्पलाद ऋषि के (उपसन्नाः) समीप गये ॥ १ ॥

भावार्थः—सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी; ये ६ ऋषिपुत्र, जो अपराविद्या में निष्णात होने से ब्रह्मपर और ब्रह्मनिष्ठ थे अर्थात् वेद वेदाङ्गों को पढ़ने से उत्कट ब्रह्म की जिज्ञासा इन को उत्पन्न हुई थी (इस से इन का ब्रह्मज्ञान के प्रति अनुराग दिखलाया गया है) परब्रह्म का अन्वेषण (खोज) करते हुवे जिज्ञासुभाव से समित्पाणि होकर

(यह भाव उन की जिज्ञासा को सूचित करता है) भगवान् पिप्पलाद ऋषि के (इस आशा से कि यह हमारी प्यास बुझावेगा) पास पहुंचे ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच-भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

पदार्थः-(तान्) उन को (सः, ऋषिः) वह ऋषि (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (भूयः, एव) फिर भी (तपसा) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियसंयम से (श्रद्धया) आस्तिकबुद्धि से युक्त होकर (संवत्सरम्) एक वर्ष तक (संवत्स्यथ) मेरे पास रहो, तदनन्तर (यथाकामम्) यथेष्ट (प्रश्नान्) प्रश्नों को (पृच्छथ) पूछो । (यदि) जो (विज्ञास्यामः) हम जानते होंगे वा तुम को अधिकारी जानेंगे तो (सर्वम्) सब (ह) स्पष्टरूप से (वः) तुम्हारे प्रति (वक्ष्यामः, इति) वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

भावार्थः-पिप्पलाद ऋषि ने उन छहों ऋषिपुत्रों से कहा कि यदि तुम फिर भी (चाहे पहिले इन का सेवन कर चुके हो) तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा को धारण करके एक वर्ष तक मेरे पास रहो, इस के अनन्तर अपनी इच्छानुसार प्रश्नों को पूछो । यदि मैं जानता हूंगा (इस से आचार्य अपनी न्यूनता नहीं, किन्तु निरभिमानता बतलाते हैं) अथवा तुम को अधिकारी समझूंगा, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा । (आज कल के नवयुवकों को, जो विना किसी साधन के केवल बातोंनी जमाखर्च से ब्रह्मज्ञानी बनना चाहते हैं, तनिक इस पर ध्यान देना चाहिये) ॥ २ ॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ ।

भगवन् ! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अथ) एक वर्ष के पश्चात् (कबन्धी, कात्यायनः) कत्य के युवा पुत्र कबन्धी ने (उपेत्य) पास आकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (ह, वै) [निश्चयार्थक अव्यय] (कुतः) किस से (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (प्रजायन्ते, इति) उत्पन्न होती हैं ? ॥ ३ ॥

भावार्थः-ऋषि की आज्ञानुसार एक वर्ष तक यथोद्दिष्ट नियमों का पालन करते हुवे इन्हों ने अपने को अधिकारी सिद्ध कर दिखाया। तब कबन्धी ने ऋषि के पास आकर यह प्रश्न किया कि भगवन्! ये प्रजायें अर्थात् चराचर सृष्टि किस से किस प्रकार उत्पन्न हुई है ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह ऋषि पिप्पलाद (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय (प्रजाकामः) सृष्टि के बनाने की इच्छा करता हुवा (सः, प्रजापतिः) वह प्रजा का स्वामी (तपः, अतप्यत) तप तपता है (तपः, तप्त्वा) तप को तप कर (सः) वह (रयिं, च, प्राणं च) रयि और प्राणरूप (मिथुनम्) जोड़े को (उत्पादयते) उत्पन्न करता है कि (एतौ) ये दोनों (मे) मेरी (बहुधा, प्रजाः) बहुविध सृष्टि को (करिष्यतः, इति) उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थः-पिप्पलाद ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुवे कहते हैं कि जब परमात्मा सृष्टि के बनाने की इच्छा करता है (इच्छा से यहां ईक्षणरूप ज्ञान लेनी चाहिये, न कि वासना) तो सब से पहिले ज्ञानमय तप करता है "यस्य ज्ञानमयं तपः" जिस का ज्ञान ही तप है। दूसरे शब्दों में ज्ञान और क्रिया के योग का नाम तप है, इस को प्रकृति और पुरुष का संयोग भी कहते हैं अर्थात् प्रजापति परमात्मा अपने गुण विज्ञान को प्रकृति की शक्ति क्रिया में मिलाकर उस से एक जोड़ा उत्पन्न करता है, जिन को रयि और प्राण कहते हैं, जिन से यह सब सृष्टि उत्पन्न होती है। इन दोनों का विशेष व्याख्यान आगे लिखेगा ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

पदार्थः-(ह, वै) प्रसिद्ध (आदित्यः) सूर्य वा अग्नि ही (प्राणः) प्राणशब्दवाच्य है (चन्द्रमाः, एव) सोम वा अन्न ही (रयिः) रयिशब्द-

वाच्य है (यत्, मूर्त्तं, च, अमूर्त्तं, च) जो स्थूल सूक्ष्म रूप जगत् है (एतत्, सर्वम्) यह सब (रयिः) रयिशब्दवाच्य है (तस्मात्) इस लिये (रयिः) रयि शब्द का विशेष वाच्यार्थ (मूर्त्तिः, एव) स्थूल ही है ॥ ५ ॥

भावार्थः-संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखने में आते हैं, एक भोग्य और दूसरे भोक्ता, इन्हीं को आद्य और अत्ता भी कहते हैं । इन में भोग्य स्थूल और भोक्ता सूक्ष्म होते हैं और जो भोग्य सूक्ष्म हैं वे भी भोक्ता की अपेक्षा स्थूल ही हैं । ऊपर की श्रुति में प्राण को आदित्य अर्थात् अग्नि रूप से भोक्ता कहा गया है और रयि को अन्न रूप से भोग्य, सो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि ही संसार के सब पदार्थों को भक्षण करता है । यथा-सूर्य रूप से संसार के समस्त रसों को, भौतिक रूप से समीपस्थ अनेक पदार्थों को और जाठराग्नि रूप से अन्नादि विविध पदार्थों को अग्नि अदन करता है । इसी प्रकार रयि जिस को सोम कहा गया है, नानारूप से उस अग्नि का भक्ष्य बनता है, जैसे-रस रूप से सूर्य का, द्रवरूप से भौतिक अग्नि का और अन्नरूप से जाठराग्नि का आद्य बनता है । इसप्रकार प्राण अग्निमय होने से भोक्ता और रयि अन्नमय होने से भोग्य है । बस यही दो शक्तियां हैं, जिन के योग से यह जगत् बना है ॥

अब रही यह बात कि श्रुति में प्राण को आदित्य और रयि को चन्द्रमा क्यों कहा गया ? इस का उत्तर यही है कि अग्नि का सूर्य से और अन्नादि ओषधियों का चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण तथा सूर्य के भोक्तृशक्तिउत्तेजक होने से एवं चन्द्रमा के भोग्यशक्ति-उद्दीपक होने से प्राण को आदित्य और रयि को चन्द्रमा कहा गया है । अगली श्रुतियों में भी इसी का व्याख्यान है ॥ ५ ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति,
तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ।
यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो
यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति,
तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ) अब (आदित्यः) सूर्य (उदयन्) उदय होता हुआ (यत्) जो (प्राचीं, दिशम्) पूर्व दिशा को (प्रविशति) प्रवेश करता है (तेन) उस से (प्राच्यान्, प्राणान्) पूर्वदिशास्थ वायुवों को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है (यत्, दक्षिणाम्) जो दक्षिण दिशा (यत्, प्रतीचीम्) जो पश्चिम (यत्, उदीचीम्) जो उत्तर (यत्, अधः) जो नीचे (यत्, ऊर्ध्वम्) जो ऊपर (यत्, अन्तराः, दिशः) जो बीच की विदिशाओं को (यत्, सर्वम्) जो सब को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तेन) उस प्रकाश से (सर्वान्, प्राणान्) सम्पूर्ण वायुमण्डल को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-पूर्व श्लोक में प्राण को आदित्य कहा गया था, इस श्रुति में उस का आदित्य से सम्बन्ध दिखलाते हैं:-सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण दिशाओं के सब पदार्थों को व्याप्त करता हुआ वायुमण्डल में प्रवेश करता है। शुद्ध हुआ वायु प्राणाश्रित भोक्तृशक्ति को (जो अग्निमय है) उद्दीप्त करता है। जो भोक्तृशक्ति रात्रि में सुषुप्ति के कारण दबी रहती है, वही दिन में सूर्य की किरणों से जाग्रत् अवस्था के कारण उद्दीप्त हो जाती है, इस लिये सूर्य ही उस का उद्दीपक है। अब यह देखना चाहिये कि यह भोक्तृशक्ति प्राणों से क्या सम्बन्ध रखती है? इस के उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्राण ही भोक्तृशक्ति का आधार है, बिना प्राण के भोक्तृशक्ति ठहर ही नहीं सकती, अप्राणियों में भोक्तृशक्ति का अभाव इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बस इसी लिये श्रुति में कहा गया है कि सूर्य किरणों द्वारा वायु के साथ प्राणों में प्रविष्ट हो कर उन की शक्ति को उत्तेजित करता है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।
तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

पदार्थः-(सः, एषः) वह यह (वैश्वानरः) सब जीवों में प्रविष्ट (विश्वरूपः) अनेक प्रकार का (प्राणः) प्राणरूप वायु है, वही (अग्निः) आदित्य रूप से (उदयते) उदय होता है। (तत्, एतत्) यही बात (ऋचा) मन्त्र के द्वारा (अभि, उक्तम्) कही गई है ॥ ७ ॥

भावार्थः-वह यही प्राण, जिस का ऊपर वर्णन किया गया है और जो अनेक रूप से प्राणियों में विचर रहा है, आदित्य रूप से उदय होता

है अर्थात् सूर्य के प्रकाश से उत्तेजित होता है। यही बात अगले मन्त्र में भी कही गई है कि:-॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः-(विश्वरूपम्) सब पदार्थों में व्याप्त (हरिणम्) किरणों वाले (जातवेदसम्) सब को जगाकर सुषुप्ति में चेतना में लाने वाले (परायणम्) सब के परम आश्रय (एकं, ज्योतिः) जगत् के एकमात्र चक्षु (तपन्तम्) प्रकाशमान सूर्य को विद्वान् लोग जानते हैं। कैसा जानते हैं? कि (सहस्र-रश्मिः) हज़ारों किरण वाला (शतधा, वर्त्तमानः) अनेक प्रकार से वर्त्तमान (प्रजानां, प्राणः) प्रजाओं का प्राण अर्थात् जीवनाधार (एषः सूर्यः) यह सूर्य (उदयति) प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः-उक्तार्थ की पुष्टि में ही यह मन्त्र दिया गया है। इस में सूर्य का प्राणोत्तेजक होना दिखलाया गया है। जब सूर्य उदित होकर अपनी किरणों से प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करता है, तब सब प्राणिसमूह उद्-बोधित होकर अपना कार्य करने में समर्थ होता है; सूर्य के अभाव में प्राणी प्राणों के होते हुवे भी जीव के सुषुप्तिगत होने से जड़वत् बने रहते हैं, सूर्य ही अपने प्रकाश से उन को जाग्रत् में लाकर चेष्टवान् बनाता है। जैसे व्यष्टिगत प्राणों को विकाश देना सूर्य का काम है, ऐसे ही समष्टिगत प्राण अर्थात् वायुमण्डल को भी फैलाना और बढ़ाना सूर्य का ही काम है। इस बात को पदार्थविद्या (सायन्स) के जानने वाले भले प्रकार जानते हैं कि गर्मी का हवा पर क्या प्रभाव पड़ता है? बस इस से सिद्ध है कि प्राण (वायु) का पोषक वा उत्तेजक एकमात्र अग्नि (आदित्य) ही है। इसी लिये इस प्रसङ्ग में उस को प्राण कहा गया है ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरञ्च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते। ते चा-न्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। तएव पुनरावर्त्तन्ते,

तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते ।
एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(संवत्सरः वै) कालरूप संवत्सर ही (प्रजापतिः) अपने में प्रजा को धारण करने से प्रजापति है (तस्य) उस के (दक्षिणं, च, उत्तरं, च) दक्षिणायन और उत्तरायण ये (अयने) दो अयन भाग हैं । (तद्, ये, ह, वै,) सो निश्चय करके जो लोग (तद्, इष्टापूर्ते, कृतम् इति, उपासते) तपोयज्ञादि–इष्ट और वापीकूप तड़ागादि–पूर्त; इन कर्त्तव्य कर्मों को ही कर्त्तव्य की पराकाष्ठा जानकर अनुष्ठान करते हैं, अकर्त्तव्यों का नहीं (ते) वे (चान्द्रमसम्, एव, लोकम्) चन्द्रलोक को अथवा रयि सम्बन्धी अन्नादि ऐश्वर्य को ही (अभि–जयन्ते) सब ओर से जीत लेते हैं (ते एव) वे ही (पुनः) फिर (आवर्त्तन्ते) संसार में लौटते हैं (तस्मात्) इस लिये (प्रजाकामाः) सन्तानादि ऐश्वर्य की कामना वाले (एते, ऋषयः) इष्टापूर्त के उपासक ये ऋषि लोग (दक्षिणम्) दक्षिणायनसम्बन्धी चन्द्रलोक को (प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (यः, पितृयाणः) जो पितरों अर्थात् उक्त इष्टापूर्त की उपासना से पुनः आवृत्त होने वालों का मार्ग है (एषः, ह, वै, रयिः) यही निश्चय करके रयि कहाता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—चौथे श्लोक में कहा गया था कि प्रजापति ने सृष्टि बनाने के लिये सब से पहिले प्राण और रयिरूप जोड़े को उत्पन्न किया, जिन का कि संक्षेप से वर्णन भी हो चुका है । अब इस श्लोक में उन दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति दिखलाते हैं:—

आदित्य रूप से प्राण और चन्द्ररूप से रयि, दोनों मिल कर संवत्सर रूप सन्तान को (जिस के दक्षिणायन उत्तरायण दो विभाग हैं) उत्पन्न करते हैं, जिन में से दक्षिणायन में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ जाने से मन्द हो जाती हैं, इसी लिये उस का चन्द्रलोक से विशेष सम्बन्ध माना गया है । इसी में वर्षाऋतु के होने से फल, फूल, अन्न, ओषधि और वनस्पति आदि प्राणियों के भोग्य पदार्थ बहुतायत से उत्पन्न होते हैं, जिन के द्वारा इष्टापूर्त का अनुष्ठान किया जा सकता है । यज्ञ और सदावानादि कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं, इन का कर्त्तव्यबुद्धि से आचरण करने वाले अपने पुण्यप्रताप

से चन्द्रलोक को (जो रयि का अधिष्ठान है) जीतते हैं अर्थात् चन्द्रलोक में जाकर जन्म लेते हैं अथवा यहीं पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्यादि के स्वामी बनते हैं। यही पितृयाण है, जिस का दक्षिणायन से विशेष सम्बन्ध है। इष्टापूर्त के उपासक इसी के द्वारा भोगैश्वर्य को प्राप्त होते हैं जो कि संवत्सर ही ऋतुपरिवर्त्तन द्वारा सम्पूर्ण प्रजा की पुष्टि और स्थिति का अधिकरण है, इसी लिये श्रुति में उस को प्रजापति कहा गया है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

पदार्थः–(अथ) और (उत्तरेण) उत्तरायण के द्वारा (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियदमन से (श्रद्धया) श्रद्धा से (विद्यया) परा विद्या से (आत्मानम्) प्राण के भी आधार आत्मा को (अन्विष्य) खोज कर (आदित्यम्) सूर्यलोक को (अभि–जयन्ते) सब ओर से जीतते हैं (एतत्; वै) यही (प्राणानाम्) प्राणों का (आयतनम्) स्थान है (एतत्) यह (अमृतम्) अविनाशि (अभयम्) भयरहित है (एतत्) यह (परायणम्) परम पद है (एतस्मात्) इस से (न, पुनरावर्त्तन्ते) फिर लौट कर नहीं आते (इति) इस प्रकार (एषः) यह (निरोधः) पाप और तज्जन्य संस्कारों की रुकावट है (तत्) सो (एषः) यह (श्लोकः) अथर्व ९।५।९ का मन्त्र भी है कि:– ॥ १० ॥ (देखो अगला मन्त्र)

भावार्थः–इस से पहिली श्रुति में दक्षिणायन और उस से विशेष सम्बन्ध रखने वाले इष्टापूर्तआदि शुभ कर्मों का फल बतलाया गया था, अब इस श्रुति में उत्तरायण और उस में होने वाले ज्ञानयज्ञ का फल दिखलाते हैं:– तप आदि साधनों से जो विज्ञान के अधिकारी बन कर अविनाशी आत्मा को जानते हैं, वे अपने परमपुरुषार्थ से आदित्य लोक को जीत कर उस परम पद के भागी बनते हैं, जो प्राणों का आश्रय, अमृत, अभय और सारे सुखों की पराकाष्ठा है, उस को पाकर फिर वे नीचे नहीं गिरते। अब यहां पर

एक प्रश्न यह होता है कि कर्म के लिये दक्षिणायन और ज्ञान के लिये उत्तरायण क्यों विशिष्ट किया गया ? क्या उत्तरायण में कोई कर्मपक्ष और दक्षिणायन में ज्ञानपक्ष का अनुष्ठान नहीं कर सकता ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि उत्तरायण किसी को इष्टापूर्त्तादि कर्म करने से और दक्षिणायन किसी को अध्यात्मयोगादि ज्ञान के साधनों की उपलब्धि से सर्वथा नहीं रोकते, तथापि दक्षिणायन में सोम्यशक्ति के प्रबल होने से अन्नादि भोग्य पदार्थों से होने वाले यज्ञादि कर्मों के करने में सुगमता होती है, इसी लिये चातुर्मास्यादि याग दक्षिणायन में किये जाते हैं । इसी प्रकार उत्तरायण में आग्नेयशक्ति के उद्दीप्त होने से आत्मज्ञान के उपयोगी स्वाध्यायादि ज्ञानोपलब्धि के साधनों में अनुकूलता प्राप्त होती है । अथवा यहां पर अवरपर्याय दक्षिण शब्द है और परपर्याय उत्तर शब्द । अवर कर्म है, इस लिये उस का सम्बन्ध दक्षिणायन से बतलाया गया है और पर ज्ञान है इस लिये उस का निर्देश उत्तरायण के साथ किया गया है । दूसरा प्रश्न यह है कि कर्म से चन्द्रलोक और ज्ञान से सूर्यलोक का जीतना क्या बात है ? इस का उत्तर यह है कि पांचवीं श्रुति में रयि नाम चन्द्रमा का और आदित्य नाम प्राण का बतलाया गया था, उस के अनुसार इस का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कर्मनिष्ठ (पुरुषार्थी) जन अपने पुरुषार्थ से रयि (ऐश्वर्य) को प्राप्त होते हैं और ज्ञाननिष्ठ (योगी) लोग अपने विज्ञानबल से आदित्य (प्राण) को जीतकर मोक्ष के भागी बनते हैं । अथवा "चदि, आह्लादे" धातु से चन्द्र शब्द बनता है । जिस स्थान में सुख विशेष हो उसे चन्द्रलोक कहते हैं । तथा "नञ्" पूर्वक "दो, अवखण्डने" धातु से आदित्य शब्द सिद्ध होता है, जिस का खण्डन (नाश) न हो सके, उसे आदित्य कहते हैं, सो यज्ञादि कर्मों से स्वर्गप्राप्ति और ज्ञान से अखण्डनीय मोक्ष की प्राप्ति सर्वतन्त्र सिद्धान्त है ॥ १० ॥

मन्त्रः—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिवआहुः परे
अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विच-
क्षणं सप्तचक्रे षडरआहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

पदार्थः-(परे) कोई आचार्य संवत्सर को (पञ्चपादम्) पांच ऋतुरूप पैरों से स्थित [यहां हेमन्त और शिशिर को एक साथ कर पांच ऋतु कहीं

गई हैं] (पितरम्) सब पदार्थों की उत्पत्ति का अधिकरण होने से पितृतुल्य (द्वादशाकृतिम्) बारहमासरूप आकृति [लिङ्ग] वाला (दिवः) द्युलोक के (अर्धे) बीच में (पुरीषिणम्) जल वाला (आहुः) कहते हैं (अथ) और (उ) वितर्क में (परे, इमे, अन्ये) ये कोई अन्य लोग (सप्तचक्रे) सात लोकरूप चक्रों और (षडरे) वसन्तादि छः ऋतुरूप अरों में (विचक्षणम्) विविध प्रकार से लक्षित (अर्पितम्, इति) जुड़ा हुआ (आहुः) कहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः–पूर्वश्लोक में संवत्सर को प्रजापति कहा गया था, अब इस मन्त्र में उस का प्रजापति होना दिखलाते हैं:–इस मन्त्र में संवत्सर के काल विभाग में दो पक्ष हैं। कोई लोग इस काल रूप संवत्सर को ऐसा मानते हैं कि यह अपने पांच ऋतुरूप पैरों से और बारह मासरूप लिङ्गों से द्युलोक के बीच में स्थित है और कोई ऐसा विमर्श मानते हैं कि यह संवत्सर सात लोकरूप चक्र और छः ऋतुरूप अरों में ठहरा हुवा है। जैसे कि अरों में रथनाभि ठहरी हुई होती है। दोनों पक्षों में काल की व्यापकता और प्रजापति होना सिद्ध है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव
रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल
इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

पदार्थः–(मासः, वै) मास ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उस का (कृष्णपक्षः, एव) कृष्णपक्ष ही (रयिः) रयि है (शुक्लः) शुक्लपक्ष (प्राणः) प्राण है (तस्मात्) इस लिये (एते, ऋषयः) ये आत्मदर्शी ऋषि लोग (शुक्ले) शुक्लपक्ष में (इष्टिम्) ज्ञान यज्ञ को (कुर्वन्ति) करते हैं (इतरे) कर्मदर्शी ऋषि (इतरस्मिन्) कृष्णपक्ष में यागादि इष्टि को करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः–अब वही संवत्सर व्यष्टि रूप से मास में जो उस का बारहवां भाग है, परिणाम को प्राप्त होता है। जैसे संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण दो भाग थे, उसी प्रकार उस के परिणाम मास के भी दो खण्ड हैं, जिन को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष कहते हैं। कृष्णपक्ष ही रयि और शुक्लपक्ष ही प्राण है। ऋषि लोग कृष्णपक्ष में विशेष कर यागादि इष्टि और

शुक्लपक्ष में अधिकतर स्वाध्यायादि का उपयोग करते थे। इस का यह अभिप्राय कदापि न समझ लेना कि वे कृष्णपक्ष में ज्ञानयज्ञ और शुक्लपक्ष में कर्मयज्ञ का अनुष्ठान ही नहीं करते थे, किन्तु दक्षिणायन के तुल्य कर्म के लिये विशेष उपयोगी कृष्णपक्ष को और उत्तरायण के समान ज्ञान के लिये विशेष उपयोगी शुक्लपक्ष को मानते थे ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो
रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति
ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव
तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः-(अहोरात्रः, वै) दिन रात ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उस का (अहः, एव) दिन ही (प्राणः) प्राण है (रात्रिः एव) रात ही (रयिः) रयि है। (एते) वे लोग (प्राणम्) प्राणरूप अग्नि को वा भोक्तृशक्ति को (प्रस्कन्दन्ति) क्षीण करते हैं। (ये) जो (दिवा) दिन में (रत्या) रतिकारणभूत स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं और (यत्, रात्रौ) जो रात में (रत्या) स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं (तत्) वह (ब्रह्मचर्यम्, एव) ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

भावार्थः-अब वही मासात्मक काल अपने अवयव अहोरात्र में परिणत होता है। उस अहोरात्र के भी दो भाग हैं, जिन को दिन और रात कहते हैं। दिन में भोक्तृशक्ति प्रबल होती है इस लिये उस को प्राण कहा गया है। रात्री में भोग्यशक्ति प्रधान होती है, इस लिये उस को रयि (अन्न) कहा गया है। अतएव जो लोग दिन में (जब भोक्तृशक्ति के प्रबल होने से प्राण वेगपूर्वक अपनी क्रिया करते हैं) स्त्री के साथ मैथुन करते हैं, उन के प्राण क्षीण हो जाते हैं अर्थात् वे मन्दाग्नि होकर निर्बल हो जाते हैं। इस के विपरीत जो रात्रि में (जब कि भोग्यशक्ति के प्रबल होने से प्राण ठहरे हुवे होते हैं) स्त्री के साथ संयोग करते हैं, वे ब्रह्मचारी के समान अपने बल की रक्षा करते हैं। इस प्रासङ्गिक विधिनिषेध के उपरान्त अब प्रकृत विषय का प्रतिपादन किया जाता है कि- ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

पदार्थः-(अन्नम्, वै) अन्न ही (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक है (ततः) उस से (ह, वै) निश्चय (तद्, रेतः) वह जगत् का कारण वीर्य उत्पन्न होता है (तस्मात्) उस वीर्य से (इमाः, प्रजाः) ये मनुष्यादि लक्षण वाली विविध प्रजायें (प्रजायन्ते, इति) उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में अपने कथन का उपसंहार करते हुवे पिप्पलाद ऋषि प्रश्न के उत्तर को समाप्त करते हैं:-अब वह संवत्सर ऋतुरूप से अन्न में परिणाम को प्राप्त होता है, अन्न से जगत् का कारण वीर्य (बीज) बनता है और उस से फिर क्रमशः यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है। कबन्धी के प्रश्न का अब तक जो कुछ उत्तर दिया गया, यहां पर उस का निगमन किया गया है अर्थात् प्राणरूप आदित्य और रयिरूप चन्द्र के जोड़े से संवत्सर की उत्पत्ति, संवत्सर से क्रमशः अन्न का विपरिणाम, अन्न से वीर्य और उस से सारी प्रजा की उत्पत्ति कहकर आचार्य प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हैं ॥१४॥

तद्ये ह तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(तत्) सो (ह) प्रसिद्ध (ये) जो गृहस्थ (प्रजापतिव्रतम्) ऋतुकाल में स्वदारगमनरूप व्रत को (चरन्ति) पालन करते हैं (ते) वे (मिथुनम्) पुत्र पुत्री को (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं और (येषाम्) जिन के (तपः) द्वन्द्वसहन और (ब्रह्मचर्यम्) इन्द्रियदमन ये दो साधन हैं (येषु) जिन में (सत्यम्) मन, वाणी और कर्म की एकता (प्रतिष्ठितम्) वर्त्तमान है (तेषाम् एव) उन्हीं का (एषः) यह (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥१५॥

भावार्थः—इस श्रुति में इष्टापूर्तादि स्मार्त कर्मों और ज्ञान का फल दिखलाया गया है। जो गृहस्थ इन्द्रियनिग्रहपूर्वक ऋतुकाल में ही केवल अपनी स्त्री से समागम करते हैं, वे अमोघवीर्य होकर यथेष्ट और उत्तम सन्तानको उत्पन्न करते हैं और जो लोग अपने जीवन में तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का आचरण करते हैं उन्हीं के लिये ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

पदार्थः-(तेषाम्) उन का (असौ) यह (विरजः) निर्मल (ब्रह्मलोकः) मोक्षरूप परमपद है (येषु) जिन में (जिह्मम्) कुटिलता और (अनृतम्) असत्य (न) नहीं तथा (माया, च) कपट भी (न, इति) नहीं है ॥ १६ ॥

भावार्थः-इस श्रुति में भी तत्त्व ज्ञान का फल प्रतिपादन किया गया है। बिना तत्त्वज्ञान के मनुष्य कुटिलता, असत्य और माया (मिथ्याचार) से सर्वथा नहीं बच सकता और जब तक इन का कुछ भी अंश रहता है तब तक उस विशुद्ध और सर्वोच्चपद का (जिस को ब्रह्मलोक तथा परमपद कहते हैं और जो सारे ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा है) अधिकारी नहीं बन सकता। अतएव तत्त्वज्ञान के प्रसाद से जिन का हृदय सरल, शुद्ध, सत्य और निष्कपट होगया है, वे ही महात्मा उस परमपद के भागी होते हैं,इतर नहीं ॥ १६ ॥

इति प्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ ।
भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते
कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति १॥(१७)

पदार्थः-(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (भार्गवः, वैदर्भिः) भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि ने (पप्रच्छ) पूछा कि- (भगवन्) हे महाभाग ! (कति, एव, देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं। (कतरे) कितने (एतत्) इस को (प्रकाशयन्ते) प्रकाशित करते हैं (पुनः) फिर (एषाम्) इन में (कः) कौन (वरिष्ठः, इति) श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भावार्थः-पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण को भर्त्ता और भोक्ता कहा गया था, अब इस प्रश्न में उस का भोक्तृत्व और भर्तृत्व सिद्ध किया जाता है।

अब पहिले प्रश्न का उत्तर हो जाने पर भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि नामक दूसरा शिष्य उक्त आचार्य से पूछता है कि भगवन् ! इस शरीर को (जो आत्मा का अधिष्ठान है) कौन २ से देव धारण करते हैं ? और कौन इस को प्रकाशित करते हैं ? और इस शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में सब से बड़ा कौन है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥ (१८)

पदार्थः—(तस्मै) उस पूछने वाले के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोलाः—(ह, वै) प्रसिद्ध (एषः) यह (आकाशः) आकाश (वायुः) पवन (अग्निः) पावक (आपः) जल और (पृथिवी) पृथिवी ये पञ्चमहाभूत और (वाङ् मनः) वाणी और मन (चक्षुः, श्रोत्रं, च) नेत्र और कर्णेन्द्रिय [ये उपलक्षणमात्र हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के] (देवः) देव हैं (ते) वे (प्रकाश्य) शरीर को प्रकाशित करके (अभिवदन्ति) परस्पर स्पर्द्धा करते हुवे कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत्, बाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामः) धारण करते हैं अर्थात् पृथक् २ विना दूसरे की सहायता के हम इस को धारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—अब आचार्य दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि आकाशादि पञ्चमहाभूत जो इस शरीर को बनाते हैं तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रिय और चक्षुः आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, यही सब इस शरीर का धारण और प्रकाशन करते हैं । इसी लिये इन की देवसंज्ञा है । ये सब आपस में एक दूसरे की स्पर्द्धा करते हुवे विवाद करते हैं * कि हम ही स्वतन्त्रता से इस शरीर को धारण करते हैं, यदि हम न हों तो एक क्षण भर में शारीरिक सब प्रबन्ध नष्ट भ्रष्ट हो जावें ॥ २ ॥

* यहां भी पञ्चभूतों और इन्द्रियों का विवाद करना वैसा ही औपचारिक है जैसा कि केनोपनिषद् में यक्ष और अग्न्यादि का संवाद था । पाठकों को इस आख्यान के उद्देश्य पर दृष्टि रखनी चाहिये, न कि शब्दार्थ पर ॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोह-
मापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभ-
ज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥ १९ ॥

पदार्थः-(तान्) उन सब से (वरिष्ठः) श्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (उवाच) बोला कि (मा) मत (मोहम्) मोह को (आपद्यथ) प्राप्त होओ (अहम्, एव) मैं ही (पञ्चधा) प्राणादि पांच भेदों से (आत्मानम्) अपने को (प्रविभज्य) विभक्त करके (एतत्, बाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामि, इति) धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः-जब इस प्रकार पञ्चभूत और इन्द्रियगण आपस में विवाद कर रहे थे, तब उन सब में मुख्य और उन सब का नेता प्राण उन से कहता है कि तुम क्यों मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हो ? तुम में से कोई भी स्वतन्त्ररूप से इस शरीर को धारण करने में समर्थ नहीं है। केवल मैं ही हूं, जो अपने पांच विभाग करके अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूप से शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर को धारण करता और तुम को भी चलाता हूं। यदि मैं न हूं तो तुम सब मिल कर भी कुछ नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव
तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च
प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका
मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च
प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं, वाङ्मनश्चक्षुः
श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥ २० ॥

पदार्थः-(ते) वे पञ्चभूत और इन्द्रियें (अश्रद्दधानाः) श्रद्धारहित (बभूवुः) हुये, तब (सः) वह प्राण (अभिमानात्) क्रोध से (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (उत्क्रमते, इव) निकलता हुआ सा दीख पड़ा (तस्मिन्, उत्क्रामति) उस के निकलते हुये (इतरे, सर्वे, एव) अन्य सब ही (उत्क्रामन्ते) निकलने लगते हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के प्रतिष्ठित होने पर

(सर्वे, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित होने लगते हैं । (तत्, यथा) सो जैसे (सर्वाः, एव, मक्षिकाः) सारी ही मक्खियें (उत्क्रामन्तम्, मधुकरराजानम्) निकलते हुवे अपने राजा [राजा मक्खी] के पीछे (उत्क्रामन्ते) निकल जाती हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के स्थित होने पर (सर्वाः, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित हो जाती हैं (एवम्) इसी प्रकार प्राण के अधीन वागादि को जानो । (अथ) तब (से) वे (वाक्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रं, च) वाणी, मन, आंख और कान आदि इन्द्रिय (प्रीताः) प्रसन्न हुवे (प्राणम्) प्राण की (स्तुन्वन्ति) स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः-प्राण के उक्त कथन को चक्षुरादि इन्द्रियों ने उपेक्षा से टाल दिया अर्थात् उस पर विश्वास नहीं किया, तब प्राण क्रोध में आकर शरीर से निकलने लगा, उस के निकलते हीं सब इन्द्रिय * भी शरीर से पृथक् होगयें, फिर प्राण का सञ्चार होने पर सब इन्द्रिय भी अपना २ काम करने लगे । जैसे मधुमक्खियां अपने राजा का अनुसरण करती हैं अर्थात् वह मक्खी जो उन की राजा होती है, जब किसी स्थान को छोड़ देती है तो उसी समय सारी मक्खियां वहां से उड़ जाती हैं और जहां जाकर वह सर्दार मक्खी बैठती है, वहीं पर सब आकर बैठ जाती हैं । इसी प्रकार प्राण सब इन्द्रियों का राजा है, वह जब इस शरीर को छोड़ देता है तो फिर उस के अनुचर वाणी मन आदि शरीर में कैसे और किस के आधार पर रह सकते हैं ? जब सब इन्द्रियों ने प्राण का यह माहात्म्य देखा, तब सब प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतञ्च यत् ॥ ५ ॥ २१ ॥

पदार्थः-(एषः) यह प्राण (अग्निः) अग्नि होकर अग्निरूप से (तपति) प्रकाशमान है (एषः) यह शरीररूप जगत् का (सूर्यः) सूर्य है (एषः) यह (मघवान्) ऐश्वर्य का हेतु (पर्जन्य) मेघ है (एषः) यह (वायुः) वेगवान् होने से वायु है (एषः) यह (पृथिवी) शरीर को धारण करने अथवा

* इन्द्रिय शब्द से उन की सूक्ष्मशक्ति का ग्रहण करना चाहिये न कि भौतिक गोलकों का ॥

शरीर में फैला हुआ होने से पृथिवी है (रयिः) शरीर का पोषक होने से चन्द्रमा है (देवः) शरीर और इन्द्रियों का प्रकाशक होने से देव है (यत्, सत्) जो सूक्ष्म कारण है (च) और (असत्) जो स्थूल कार्य है (च) और (अमृतम्) विनाशधर्मरहित है ॥ ५ ॥

भावार्थः—अब यहां से द्वितीय प्रश्न के अन्त तक प्राण की स्तुति की गई है। यथार्थ गुणकीर्त्तन का नाम स्तुति है, सो प्राण में जो यथार्थ गुण हैं, उन का इन श्लोकों में वर्णन किया गया है:—

तपता होने से प्राण को अग्नि कहा गया है। जैसे संसार में अग्नि के बिना पदार्थों का भक्षण और परिपाक नहीं हो सकता। ऐसे ही शरीर में प्राण के बिना अन्न का भक्षण और पाचन नहीं हो सकता। प्राण के शिथिल हो जाने से ही मन्दाग्नि होजाती है, इस लिये प्राण को उपचार से अग्नि कहा गया है। एवमेव जैसे सूर्य संसार को प्रकाशित करता है, ऐसे ही प्राण इस शरीर को प्रकाशित करते हैं। सूर्य के बिना जैसे संसार अन्धकारमय हो जाता है, ऐसे ही प्राण के बिना शरीर सूना होजाता है। इसी कारण प्राण को सूर्य कहा गया है। तथा जिस प्रकार मेघ वर्षा से संसार को जीवनदान देता है, इसी प्रकार प्राण के सञ्चार से शरीर जीवित कहलाते हैं, बिना वर्षा के जो संसार की गति होती है, वही बिना प्राण के शरीर की भी दशा समझनी चाहिये। इसी लिये प्राण को मेघ बतलाया गया है। इसी प्रकार वेगवान् और जीवनाधार होने से वायु, शरीर को धारण करने वाला और उस में फैला हुआ होने से पृथिवी, शरीर का पोषक होने से चन्द्र और इन्द्रियादि का प्रकाशक होने से प्राण को देव कहा गया है, तथा कारणरूप सूक्ष्म तन्मात्राओं और कार्यरूप स्थूल इन्द्रियों का चलाने वाला होने से सत् और असत् एवं देह से निकलने पर न मरने वाला होने से प्राण को अमृत कहा गया है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥२२॥

पदार्थः—(रथनाभौ) रथनाभि में (अरा इव) अराओं के समान (प्राणे) प्राण में (सर्वम्) सब कुछ (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है। (ऋचः) ऋग्वेद

(यजूंषि) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद, ये तीनों प्रकार के मन्त्र (यज्ञः) इन से होने वाला यज्ञ (क्षत्रम्) शारीरिकबल (च) और (ब्रह्म) आत्मिक बल, ये सब प्राण के आश्रित हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः– समस्त कर्मकाण्ड (मनुष्यकर्त्तव्य) के विधायक ऋग्यजुः साम ये तीन प्रकार के मन्त्र हैं। इन्हीं तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्व का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है, इस लिये उस का पृथक् निर्देश नहीं किया। उक्त तीनों प्रकार के मन्त्रों से विधेय जो यज्ञादि कर्म हैं, उन का यथाविधि अनुष्ठान प्राण के ही आश्रित है। प्रथम प्रश्न में सिद्ध कर चुके हैं कि भोक्तृ- शक्ति या कर्तृ शक्ति प्राण के ही आधीन है, बिना प्राण के जब कर्तृत्व ही नहीं तो फिर कर्म कैसे सिद्ध हो सकता है? हां, प्राणरहित जड़ पदार्थ मन्त्र वा यज्ञादि के उपयोग्य हो सकते हैं, न कि उपयोक्ता। उपयोग्य से उपयोग लेना उपयोक्तृशक्ति के अधीन है, जो कि प्राण के आश्रित है। यज्ञ शब्द से यहां सामाजिकबल का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सामाजिक अभ्युदय के लिये यज्ञ किया जाता है, इस में शतपथब्राह्मण का प्रमाण भी है:–"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवतीत्यादि" यज्ञ जनता (जनसमुदाय) के लिये होता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिये। अतएव प्राण ही सामाजिकबल के (जो यज्ञादि कर्मों के द्वारा बढ़ाया जाता है) आधार हैं। इसी प्रकार क्षत्रशब्द से शारीरिक और ब्रह्मशब्द से आत्मिकबल का ग्रहण होता है, शारीरिक और आत्मिक बल भी प्राण के ही आश्रित हैं। प्राण ही अनुकूल होकर शरीर को पुष्टि पहुंचाते हैं और प्राण ही वश में होकर आत्मा को बलिष्ठ बनाते हैं। यद्वा अग्न्यादि ५ वीं श्रुति के और ऋक् आदि ६ ठी के कहे सब पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं। यह दोनों का एक अन्वय भी हो सकता है ॥ ६ ॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति, यः
प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ २३ ॥

पदार्थः–(प्राण) हे प्राण! (यः) जो तू (प्राणैः) प्राणादि पांच भेदों से (प्रतितिष्ठसि) शरीर में रहता है (प्रजापतिः) प्राणियों का अध्यक्ष

होकर (गर्भे) शरीर में (चरसि) विचरता है (त्वम्, एव) तू ही (प्रति जायसे) जन में प्रकट होता है उस (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमाः, प्रजाः) ये सब प्राणी (बलिम्) भाग को (हरन्ति) आहरण करते हैं अर्थात् देते हैं ॥७॥

भावार्थः-इस श्लोक में प्राण को सम्बोधित करके इन्द्रियादि उस की स्तुति करते हैं:-

हे प्राण ! तू ही प्रजा का जीवनमूल होने से सब प्राणियों के शरीरों में विचरता है और नाना रूप से शरीर के भिन्न २ अङ्गों में प्रकट होता है अर्थात् प्राणरूप से हृदय में, अपानरूप से गुदा में, समानरूप से नाभि में, उदानरूप से कण्ठ में और व्यानरूप से समस्त शरीर में व्यापक है । तेरी ही रक्षा और स्थिति के लिये सब प्राणी अन्नादि विविध भोग्य पदार्थों की भेंट करते हैं अर्थात् तुझ को शरीर में सुरक्षित रखने के लिये नाना प्रकार के उपायों को काम में लाते हैं, क्योंकि तू ही केवल अत्ता है और सब आद्य हैं । निस्सन्देह संसार में तुझ से प्रिय और कोई वस्तु नहीं है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ २४ ॥

पदार्थः-तू (देवानाम्) सूर्यादि देवों का (वह्नितमः) अग्निरूप से हव्य का वाहक (असि) है, (पितॄणाम्) अग्निष्वात्तादि पितृगणों का (प्रथमा) पहिला अर्थात् मुख्य (स्वधा) कव्य है । (ऋषीणाम्) चक्षुरादि इन्द्रियों का (सत्यम्) असन्दिग्ध (चरितम्) चरित्र है (अङ्गिरसाम्) शरीर के अङ्गों का (अथर्वा) न सुखाने वाला (असि) है ॥ ८ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में चार बातें कही गई हैं । उन में से पहिली बात यह है कि प्राण-सूर्यादि देवों को उन का भाग (हव्य) पहुंचाता है, सो यह काम तो अग्नि का है और इस लिये उस को हव्यवाट् कहते हैं, प्राण से इस का क्या सम्बन्ध ? इस का उत्तर यह है कि अग्नि में केवल दाहक शक्ति है, जिस से वह पदार्थों को जलाकर सूक्ष्म और हलका कर देता है, अब उन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाना, यह काम वायु का है, जो कि प्राण का दूसरा नाम है । अच्छा तो फिर वेदादि शास्त्रों में अग्नि को हव्यवाट् क्यों कहा गया है ? इस का उत्तर यह है कि वायु से उत्पन्न

होने के कारण अथवा वायु के सहचार से अग्नि में हव्यवाहकता मानी गई है, वास्तव में वहनक्रिया का कर्त्ता वायु ही है। अस्तु यदि इन स्वतन्त्ररूप से अग्नि को ही हव्यवाहक मान लेवें, तब भी उक्त कथन में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्राण की अग्निरूपता प्रथम प्रश्न में भले प्रकार सिद्ध कर ही चुके हैं। दूसरी बात यह है कि प्राण ही पितृगणों की पहिली स्वधा है। इस का तात्पर्य यह है कि श्राद्ध में जब पितृगण भोजन करते हैं, तब प्राण ही के द्वारा अन्नप्रवेशन और अन्नपाचनादि क्रिया सिद्ध होती हैं, इस लिये प्राण ही पितरों की स्वधा है। तीसरी बात यह है कि इन्द्रियों का सत्यचरित भी प्राण है (ऋषी गतौ) ऋष धातु के ज्ञानार्थक होने से ऋषि नाम इन्द्रियों का है। प्राण के स्वस्थ होने पर ही इन्द्रिय अपने अर्थों को निर्भ्रान्त रीति पर ग्रहण कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों की सत्यता (सार्थकता) प्राण के ही कारण है। इसी लिये प्राण को उन का सत्यचरित कहा गया है। चौथी बात यह है कि प्राण को शरीर के अङ्गों का न सुखाने वाला कहा गया है, सो प्रत्यक्ष है कि प्राण ही की गति से सब अङ्ग हरे भरे रहते हैं, प्राण के अभाव में शरीर के सब अङ्ग सूख जाते हैं, इसी लिये उन का नाम अङ्गिरस् है, उन अङ्गों का न सुखाने वाला होने से प्राण का नाम अथर्वा है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥ २५ ॥

पदार्थः-(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (तेजसा) अपने तेज से (रुद्रः) भयङ्कर है (परिरक्षिता) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्य का देने वाला (असि) है (त्वम्) तू (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) विचरता है (त्वम्) तू (ज्योतिषाम्) नक्षत्रों का (पतिः) स्वामी होने से (सूर्यः) आदित्य है ॥ ९ ॥

भावार्थः-प्राण ही इन्द्ररूप से सब जगत् की रक्षा करता है अर्थात् प्राण के ही आश्रय से सब प्राणी सांसारिक और पारमार्थिक सुख का अनुभव करते हैं। प्राण का इन्द्रत्व यही है कि वह ऐश्वर्य का भोग कराने में मुख्य हेतु है। इसी प्रकार अपने तेज से प्राण ही रुद्र भी है, "रोदयति जनानिति

रुद्रः" रुलाने वाले को रुद्र कहते हैं, सो प्राण ही शरीर से निकलता हुआ लोगों को रुलाता है, यही उस में रुद्रत्व है। प्राण ही आकाश में अव्याहतगति होकर विचरता है, इस लिये वायु है और वही अग्निरूप होने से सब का प्रकाशक है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण नक्षत्रों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही प्राण अपने तेज से शरीर के सब अङ्गों को प्रकाशित कर रहा है ॥ ९ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ! ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥२६॥

पदार्थः (प्राण) हे प्राण ! (यदा) जब (त्वम्) तू (अभिवर्षति) मेघ होकर वर्षता है (अथ) तब (ते) तेरी (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (कामाय) यथेष्ट (अन्नम्) अन्न (भविष्यति, इति) होगा, इस आशा से (आनन्दरूपाः) आनन्दरूप होकर (तिष्ठन्ति) ठहरती हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—प्राण की मेघरूपता कह चुके हैं। भौतिक विज्ञान से भी यह बात सिद्ध है कि वर्षा के कारण वायु और अग्नि ये दो ही पदार्थ हैं। सो इन में से वायु तो प्राण का ही दूसरा नाम है, रहा अग्नि सो वह भी (वायोरग्निः) इस प्रमाण के अनुसार वायु से ही उत्पन्न होता है और इसी लिये प्रथम प्रश्न में अग्नि वा सूर्य को प्राणरूपता कही गई है तो प्राण ही वर्षा का भी मुख्य कारण ठहरा। जब औष्का प्राण मेघरूप होकर पृथिवी पर वर्षता है तब अनेक प्रकार के भोग्य अन्नादि पदार्थ यथेष्ट उत्पन्न होते हैं, जिन से सारी प्रजा (जो प्राण की अध्यक्षता में रहती है अर्थात् भोक्तृशक्ति सम्पन्न है) तुष्टि और पुष्टि को प्राप्त होती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥ २७॥

पदार्थः-(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (व्रात्यः) सब से पहिला होने से संस्कार नहीं किया गया है अर्थात् स्वभाव से ही शुद्ध है (एकऋषिः) एकर्षि नाम अग्नि होकर (अत्ता) सब का भक्षण करने वाला है (विश्वस्य, सत्पतिः) विद्यमान जगत् का पति है (वयम्) हम सब (आद्यस्य) तेरे भक्षणीय अन्नादि के (दातारः) देने वाले हैं (मातरिश्व) हे मातरिश्वन् !

(त्वम्) तू (नः) हमारा , पिता) रक्षक है अथवा त्वम्=तू , मातरिश्वनः= वायु का पिता=उत्पादक है ॥ ११ ॥

भावार्थः-जिस का संस्कार न हुवा हो, उसे व्रात्य कहते हैं। यहां प्राण को व्रात्य इस लिये कहा गया है कि वह सृष्टि में सब से पहिले उत्पन्न हुवा, फिर उस का संस्कार कौन कर सकता था? इस लिये वह स्वभावशुद्ध होने से संस्कार की अपेक्षा नहीं रखता। प्राण का अग्नि और अत्ता होना सिद्ध हो चुका है। निदान सम्पूर्ण जगत् का पति अर्थात् पालक होना भी सिद्ध हो है। इन्द्रिय प्राण से कहते हैं कि जैसे होताओं से हव्य पाया हुवा अग्नि उन की रक्षा का हेतु होता है, वैसे ही हम से अन्नादि भोग्य पदार्थों को प्राप्त हुवा तू हमारा रक्षक होता है। अतएव हम होता (देने वाले) और तू पिता (रक्षा करने वाला) है। या तू अन्तरिक्ष में श्वास लेने वाले वायु का पिता अर्थात् उत्पादक है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च
चक्षुषि । या च मनसि संतता शिवां तां
कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ २८ ॥

पदार्थः-(या) जो (ते) तेरी (तनूः) फैली हुई शक्ति (वाचि) वाणी में (या) जो (श्रोत्रे) कान में (च) और (या) जो (चक्षुषि) आंख में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (या, च) और जो (मनसि) मन में (संतता) फैली हुई है (ताम्) उस को (शिवाम्) मङ्गलकारिणी (कुरु) कर (मा) मत (उत्क्रमीः) निकल ॥ १२ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में इन्द्रिय प्राण से प्रार्थना करते हैं-हे प्राण ! तेरी जो शक्ति वाणी में प्रतिष्ठित है, जिस से हम बोलते हैं, जो कान में अधिष्ठित है, जिस से हम सुनते हैं, जो आंख में उपस्थित है, जिस से हम देखते हैं और जो मन में व्याप्त है, जिस से हम सङ्कल्प विकल्प करते हैं, उस शक्ति को हमारे लिये मङ्गलकारिणी कर और तू हमारे शरीर से मत निकल अर्थात् हम तेरी उपस्थिति में तेरी शक्ति का प्रयोग ऐसे कामों में करें कि जिस से सर्वदा हमारा कल्याण हो और हम को तेरा वियोग न हो ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च
विधेहि न इति ॥ १३ ॥ २९ ॥

पदार्थः-(त्रिदिवे) तीनों लोक में (यत्, प्रतिष्ठितम्) जो कुछ वर्तमान है (इदम् सर्वम्) यह सब (प्राणस्य) प्राण के (वशे) वश में है (माता, इव) माता के समान (पुत्रान्) पुत्रों की (रक्षस्व) रक्षा कर (च) तथा (श्रीः) विज्ञान और ऐश्वर्यरूपिणी शोभा को (प्रज्ञाम्, च) और उस की निमित्त सन्मतिप्रेरिणी बुद्धि को (नः) हमारे लिये (विधेहि, इति) सम्पादन कर ॥ १३ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में भी प्राण से प्रार्थना की गई है। पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो कुछ है, वह सब प्राण के ही आधार में स्थित है। जङ्गम ही नहीं, किन्तु स्थावर भी विना वायु के न बढ़ सकते और न जीवित रह सकते हैं, अतएव यह सब चराचर जगत् प्राण के ही आधीन है। प्राण ही माता के समान प्राणियों की रक्षा करता है। जैसे माता आप कष्ट उठाकर भी पुत्रों को सुख पहुंचाती है। इसी प्रकार प्राण अपानादि रूप में परिणत होकर भी प्राणियों के लिये हितकर ही होता है। प्राण की ही स्थिरता और वश्यता से मनुष्य शारीरिक और आत्मिकबल तथा धारणावती बुद्धि को प्राप्त करता है। अतएव इस शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में प्राण देव ही सब से श्रेष्ठ और प्रधान है। ऐसा जान कर जो इस को तप और योगादि साधनों के द्वारा वश में करते हैं, वे ही मनुष्यजीवन के उद्देश्य को पूर्ण करते हुवे मोक्ष के भागी बनते हैं ॥ १३ ॥

इत्यथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥ २ ॥

—:0※0:—

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ ।
भगवन् ! कुत एष प्राणो जायते कथमाया-
त्यस्मिन् शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं

प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥ ३० ॥

पदार्थः-(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (आश्वलायनः, कौशल्यः) अश्वल के पुत्र कौशल्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एषः, प्राणः) यह प्राण (कुतः) किस कारण से (जायते) उत्पन्न होता है ? (कथम्) क्योंकर (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है (आत्मानम्, वा) और अपने को (प्रविभज्य) विभाग करके (कथम्) किस प्रकार (प्रातिष्ठते) स्थित होता है ? (केन) किस हेतु से (उत्क्रमते) निकलता है ? और (कथम्) क्योंकर (बाह्यम्) बाह्य जगत् को (अभिधत्ते) धारण करता है ? और (कथम्) क्योंकर (अध्यात्मम्, इति) अध्यात्म जगत् को ॥ १ ॥

भावार्थः-पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण का अग्निरूप से भोक्ता होना और दूसरे प्रश्न के उत्तर में वायुरूप से सब से प्रथम और श्रेष्ठ होना सिद्ध किया गया । अब तीसरे प्रश्न के उत्तर में उस की उत्पत्ति और विभाग का वर्णन किया जायगा । भार्गव वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर हो चुकने पर आश्वलायन कौशल्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है कि भगवन् ! उक्त प्राण जिस का भोक्तृत्व और मुख्यत्व आप सिद्ध कर चुके हैं, कहां से उत्पन्न होता है ? अर्थात् उस का निमित्त कारण क्या है ? और उत्पन्न होकर कैसे इस शरीर में आता है और कितने भागों में विभक्त होकर ठहरता है ? किस प्रकार शरीर से निकलता है ? कैसे बाह्यजगत् को (जिस में पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप आधिदैविक और अग्न्यादिपञ्चभूतरूप आधिभौतिक सृष्टि सन्निविष्ट (शामिल) है, धारण करता है और क्योंकर आभ्यन्तर जगत् को (जिस में आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली प्राणादि पांच सूक्ष्म वृत्तियां संयुक्त हैं) धारण करता है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (अतिप्रश्नान्) तू बहुत गम्भीर प्रश्नों को (पृच्छसि)

पूछता है, (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म में निष्ठा वाला (असि, इति) है (तस्मात्) इस लिये (ते) तेरे अर्थ (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः-कौशल्य का प्रश्न सुन कर पिप्पलाद ऋषि उस से कहते हैं कि हे कौशल्य ! तू बड़े विषम प्रश्नों को पूछता है । प्रथम तो प्राण का जानना ही बड़ा कठिन है, उस पर उस की उत्पत्ति और विभाग, संक्रमण और उत्क्रमण शरीर के बाहर और भीतर सञ्चरण; ये ऐसे गूढ़ और सूक्ष्म विषय हैं कि जिन को विद्वान् भी सुगमता से नहीं जान सकते । जो कि इन विषयों का जानना ब्रह्मज्ञान के लिये उपयोगी है, इस लिये इन की जिज्ञासा रखता हुआ तू ब्रह्मनिष्ठ प्रतीत होता है । अतएव मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूं ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्ने-
तदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥ ३ ॥ ३२ ॥

पदार्थः-(आत्मनः) आत्मा से (एषः, प्राणः) यह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है । (यथा) जैसे (पुरुषे) हाथ पैर आदि आकृति वाले शरीर में (एषा, छाया) यह छाया संबद्ध है, तद्वत् (एतस्मिन्) इस आत्मा में (एतत्) यह प्राण (आततम्) फैला हुआ है (मनोकृतेन) इच्छाजन्य कर्मरूप निमित्त से (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है ॥३॥

भावार्थः-इस श्लोक में आत्मा से प्राण की उत्पत्ति कही गई है, इस से कोई आत्मा को प्राण का उपादान कारण न समझ बैठें । क्योंकि उपादान की कल्पना तो शरीर और छाया के दृष्टान्त से कट जाती है जैसे शरीर छाया का उपादान नहीं किन्तु निमित्त है अर्थात् जैसे शरीररूप निमित्त के होने से छायारूप नैमित्तिक वस्तु होती है, ऐसे ही आत्मा भी प्राण का निमित्त है अर्थात् आत्मरूप निमित्त से प्राणरूप नैमित्तिक पदार्थ उत्पन्न होता है । इस दृष्टान्त से एक यह बात भी ध्वनित होती है कि जैसे छाया और शरीर का साथ है अर्थात् जहां शरीर जाता है वहां उस की छाया भी जाती है, इसी प्रकार प्राण और आत्मा का भी साथ है अर्थात् जहां आत्मा जाता है, वहीं उस का प्राण भी । यही कारण है कि साधारण पुरुष इन में भेद भी नहीं कर सकते किन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्राण को ही आत्मा समझने लगते हैं । अस्तु,

श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि जैसे साकार वस्तु से छाया उत्पन्न होती है, वैसे ही निराकार आत्मा से प्राण की उत्पत्ति होती है । जब कोई साकार वस्तु छाया का उपादान नहीं, तब आत्मा प्राण का उपादान क्योंकर हो सकता है ? आत्मसत्ता से उस का प्रकट होना ही प्राण की उत्पत्ति है । अब रहा उस का शरीर में प्रवेश करना सो यह आत्मा के इच्छाजन्य कर्मरूप निमित्त के आधीन है अर्थात् आत्मा जिस २ इच्छा से जैसे २ कर्म करता है प्राण वैसे २ ही शरीरों में उस को ले जाता है । तात्पर्य यह कि कर्मानुसार आत्मा का किसी शरीर में जन्म लेना ही प्राण का उस में प्रवेश करना है । प्राण किस से उत्पन्न होता है ? और कैसे इस शरीर में आता है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर इस श्रुति में हो गया ॥ ३ ॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान्
ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण
इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥ ३३ ॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (सम्राट्, एव) राजा ही (अधिकृतान्) अधिकारियों को (विनियुङ्क्ते) नियुक्त करता है कि (एतान्, ग्रामान् एतान्, ग्रामान्) इन २ ग्रामों को (अधितिष्ठस्व) अधिकार में ले (एवम्, एव) इस ही प्रकार (एषः, प्राणः) यह प्राण (इतरान्, प्राणान्) चक्षुरादि इन्द्रियों को अथवा अपानादि अपने भेदों को (पृथक्, पृथक्, एव) अलग अलग (संनिधत्ते) नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-इस श्रुति में राजा के दृष्टान्त से प्राण का कर्त्तव्य बतलाया गया है । जैसे राजा अपने देश के प्रबन्धार्थ अधिकारियों को नियुक्त करता है और उन के अधिकार की सीमा भी निर्धारण कर देता है अर्थात् अमुक अमुक प्रान्त अमुक २ अधिकारों के साथ अमुक २ अधिकारी के शासनाधीन हैं । इसी प्रकार इस शरीररूप देश का राजा प्राण भी शारीरिक प्रबन्ध के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को एवं अपानादि प्राण भेदों को उन २ का काम और उस की सीमा निर्धारण करके नियुक्त करता है । जैसे वे अधिकारी राजा के नियमानुसार अपने २ कर्त्तव्य का पालन करते हैं, ऐसे ही समस्त प्राणों के भेद, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि प्राण की योजना से अपना २ काम करते हैं ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासि-
काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु
समानः । एषह्येतद्धुतमन्नं समं नयति
तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(पायूपस्थे) गुदा और उपस्थ में (अपानम्) अपान को नियुक्त करता है (मुखनासिकाभ्याम्) मुखनासिका के सहित (चक्षुः श्रोत्रे) आंख और कान में (प्राणः) प्राण (स्वयम्) आप (प्रातिष्ठते) ठहरता है (तु) और (मध्ये) प्राण और अपान के बीच में अर्थात् नाभिदेश में (समानः) समान वायु रहता है (हि) निश्चय (एषः) यह समान वायु (एतत्, हुतम्, अन्नम्) इस खाये पीये अन्नादि के रस को (समम्) परिपाक को (नयति) पहुंचाता है (तस्मात्) उस जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले समान वायु से (एताः सप्तार्चिषः) दो आंख की, दो कान की, दो नाक की और एक मुख की ये सात ज्वालायें, जिन से प्राण का प्रवेश और निर्गम होता है (भवन्ति) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब यहां से इस प्रश्न का कि अपने को विभक्त करके किस प्रकार प्राण शरीर में रहता है, उत्तर प्रारम्भ किया जाता है । गुदा और उपस्थ इन्द्रिय में अपान वायु रहता है, जिस का काम मलमूत्र का उत्सर्ग कराना है । आंख और कान उपलक्षण हैं शिर के । मुख, नासिका, आंख और कान के द्वारों से प्रवेश करता हुवा शिर में प्राण वायु रहता है । जिस का काम श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना है । प्राण और अपान के बीच अर्थात् नाभिदेश में समान वायु रहता है, जिस का काम जाठराग्नि को प्रदीप्त करके भुक्त और पीत अन्नादि के रस को परिपाक करना है, उस ही समान वायु से आंख की दो, कान की दो, नाक की दो और मुंह की एक; ये सात ज्वालायें प्रज्वलित होती हैं अर्थात् जब वह जाठराग्नि के द्वारा रस का परिणाम कराता है, तब उस से परिपक्व और पुष्ट होकर चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय अपने २ अर्थों के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं, उन की समर्थता दिखलाने के लिये ही "अर्चिः" शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ५ ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(हृदि) हृदय में (हि) निश्चय (एषः) यह (आत्मा) सब इन्द्रियों का राजा आत्मा रहता है (अत्र) इस हृदय में (एतत्) यह (नाडीनाम्) नाड़ियों का (एकशतम्) एक सौ एक १०१ का संघात है (तासाम्) उन १०१ में (एकैकस्याम्) एक एक में (शतम्, शतम्) सौ सौ भेद हैं (द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः, प्रतिशाखानाडीसहस्राणि) फिर उन में भी प्रत्येक शाखारूप नाड़ी के बहत्तर २ हज़ार भेद (भवन्ति) होते हैं (आसु) इन में (व्यानः) व्यान वायु (चरति) विचरता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—हृदय में जो पुण्डरीकाकार स्थान है, जिस में कि शरीर का अधिष्ठाता और इन्द्रियों का राजा आत्मा रहता है, उस के पास ही नाभि-कमल से १०१ नाड़ियें निकल कर शरीर में फैलती हैं। फिर उन में से एक२ की सौ २ शाखायें फूटती हैं, जिन की संख्या मिलकर १०१०० होती है । अब इन १०१०० में से प्रत्येक की ७२००० शाखायें होती हैं, जिन को गुणा करके ७२७२००००० हुई और पिछली मूल १०१ तथा १०१०० नाड़ी मिलाकर सब नाड़ियों की संख्या जो इस शरीर में फैली हुई हैं, ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार २०१ होती हैं । इन सब नाड़ियों में रुधिर का सञ्चार करता हुवा व्यान वायु विचरता है । शरीर में व्यापक होने से ही इस का नाम व्यान है, यद्यपि सामान्यरूप से शरीर के सब अङ्ग और प्रत्यङ्गों में व्यान रहता है तथापि सन्धि और मर्म स्थानों में इस की विशेषरूप से स्थिति मानी गई है क्योंकि वहीं से रुधिरादि का विभाग होकर शरीर के सर्व अङ्गों में पहुंचता है ॥ ६ ॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(अथ) और (एकया) उन १०१ नाड़ियों में से एक के द्वारा (ऊर्ध्वः) ऊपर को जाने वाला (उदानः) उदान वायु है, जो (पुण्येन) पुण्यकर्म से (पुण्यलोकम्) स्वर्गलोक को (पापेन) पापकर्म से (पापम्)

नरकलोक को और (उभाभ्याम्, एव) पाप, पुण्य दोनों से ही (मनुष्य-लोकम्) मनुष्यलोक को (नयति) लेजाता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-अब उन १०१ नाड़ियों में से एक सुषुम्णा नाम नाड़ी है, जो पैरों से लेकर मस्तक तक चली गई है। उस में विचरता हुआ उदान वायु विशेष कर कण्ठदेश में रहता है, जो भुक्त और पीत अन्न पानादि को कण्ठ से नीचे उतार कर आमाशय में पहुंचाता है। इसी के द्वारा शरीर की पुष्टि होने से मनुष्य कर्म करने में समर्थ होता है, अतएव यही शुभकर्म के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग में पहुंचाता है अर्थात् देवत्व को प्राप्त कराता है और यही अशुभकर्म के द्वारा नरक में ले जाता है अर्थात् असुरत्व को प्राप्त कराता है और यही शुभाऽशुभ मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्यत्व की प्राप्ति कराता है। तात्पर्य यह कि इसी के द्वारा मनुष्य को पाप, पुण्य और मिश्रित कर्मों के करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। अतएव यही उन के उत्तम, अधम और मध्यम फल की प्राप्ति का निमित्त भी है। इस का दूसरा अर्थ यह भी है कि उक्त सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ही (जिस में उदान वायु रहता है) मनुष्य का प्राण निकलता है। यदि वह अच्छे कर्मों के साथ निकले तो अच्छी गति को, बुरे कर्मों के साथ निकले तो बुरी गति को और अच्छे बुरे मिले हुवे कर्मों के साथ निकले तो बीच की गति को प्राप्त कराता है। इस पक्ष में यह उस प्रश्नांश का उत्तर है, जिस में शिष्य ने आचार्य से यह पूछा था कि प्राण किस प्रकार शरीर से निकलता है ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं
चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता
सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः
स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥ ३७ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः, वै) सूर्य ही (बाह्यः, प्राणः, सन्) बाह्य प्राणरूप हुवा (उदयति) प्रकाशित होता है (हि) निश्चय (एषः) यह सूर्यरूप बाह्यप्राण (एनम्) इस (चाक्षुषम्, प्राणम्) चक्षु में रहनेवाले प्राण को (अनुगृह्णानः) अनुग्रह करता हुआ स्थित है। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (या) जो (देवता) आकर्षणशक्ति है (सा, एषा) वह यह

शक्ति (पुरुषस्य) पुरुष के (अपानम्) अपान वायु को (अवष्टभ्य) खींच कर उस को धारण किये हुवे है (अन्तरा) सूर्य और पृथ्वी के बीच में (यद्) जो (आकाशः) आकाशरूप वायु है (सः) वह (समानः) समान वायु है (वायुः) सामान्यरूप से जो बाह्यवायु है (सः) वह (व्यानः) व्यान है॥८॥

भावार्थः—इस श्रुति के द्वारा प्रश्न के अन्तिम भाग का, जिस में यह पूछा गया है कि बाह्य और आध्यात्मिक जगत् को प्राण क्योंकर धारण करता है ? उत्तर दिया गया है । सूर्य (जो कि यहां उपलक्षण है पञ्चभूतों का) बाह्यप्राण है और चक्षु (जो कि यहां उपलक्षण है पञ्चज्ञानेन्द्रियों का) आध्यात्मिक * प्राण । जैसे तैजस प्राण चाक्षुष प्राण को रूप ग्रहण करने की शक्ति देता है, ऐसे ही आकाशस्थ प्राण श्रोत्रस्थ प्राण को, वायव्य प्राण स्पर्शगत प्राण को, आप्य प्राण रसनास्थ प्राण को और पार्थिव प्राण घ्राणस्थ प्राण को प्रकाशित करते हुवे उन्हें यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं अर्थात् विना सूर्य के रूप, विना आकाश के शब्द, विना वायु के स्पर्श, विना जल के रस और विना पृथिवी के गन्ध का ग्रहण हो नहीं सकता। इस से सिद्ध है कि आध्यात्मिक प्राण (जो पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्त्तक है) आधिभौतिक प्राण के (जो पञ्चमहाभूतों में प्रविष्ट है) आश्रित है, अतएव यह प्राण अपने समष्टिरूप से व्यष्टिरूप को धारण कर रहा है । अब रहा अपान वायु जो प्राण की अधोगामिनी वृत्ति का नाम है, उस को पृथिवी अपनी आकर्षणशक्ति से रोके हुवे है । अन्यथा शरीर भारी होने से गिर पड़ना चाहिये या अवकाश होने से ऊपर को उठ जाना चाहिये क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक भारी वस्तु नीचे को गिरती है या अवकाश मिलने पर ऊपर को उठती है, परन्तु यह शरीर स्तम्भवत् न तो नीचे ही को गिरता है और न वृक्षशाखावत् ऊपर ही को उठता है किन्तु जैसे का तैसा (जैसा किसी स्तम्भ को चारों ओर तनाव बांध कर खड़ा कर देते हैं) खड़ा है । इस का कारण पृथिवी की आकर्षणशक्ति है,

* बाह्य और आध्यात्मिक शब्द यहां शरीर की अपेक्षा से है अर्थात् जो प्राण शरीर के बाहर हो, वह बाह्य और जो उस के भीतर हो वह आध्यात्मिक है ॥

ा बाह्य प्राण से (जो उस में रहता है) शरीरस्थ अपान को खींचे हुवे
, अतएव बाह्य प्राण ही शरीरस्थ अपान को भी धारण करता है । अब
हा बाह्य समान वायु (जो सूर्यरूप प्राण और पृथिवीरूप अपान के बीच
है) वह शरीरस्थ समान वायु पर (जो आध्यात्मिक प्राण और अपान के
ीच में है) अनुग्रह करता हुवा वर्त्तता है अर्थात् समष्टिरूप समान वायु
े प्रसाद से ही व्यष्टिरूप समान वायु अनुकूल होता है । इसी प्रकार बाह्य
्यान से (जो समस्त ब्रह्माण्ड में फैल रहा है) शरीरस्थ व्यान (जो नख
से लेकर शिखापर्यन्त शरीर में व्यापक है) अनुगृहीत होता हुआ सम्पूर्ण
प्राणियों के लिये उपयोगी होता है । निदान संक्षेप से इस मन्त्र का तात्पर्य
यह है कि समष्टिगत प्राण ही व्यष्टिगत प्राण को आश्रय और अवकाश देता
हुवा अधिभूत और अध्यात्म (बाह्य और अन्तःस्थ) इन दोनों प्रकार के
जगत् को धारण कर रहा है ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥ ३८ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (तेजः, वै) तेज ही (उदानः) उदान वायु है (तस्मात्) इस लिये (उपशान्ततेजाः) शान्त हुवा है स्वाभाविक तेज जिस का अर्थात् मरणासन्न पुरुष (मनसि, संपद्यमानैः) मन में लीन हुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (पुनर्भवम्) पुनर्जन्म को "प्राप्त होता है" ॥ ९ ॥

भावार्थः-इसी प्रकार बाह्य उदान भी जो तेज में व्यापक है, अन्तःस्थ उदान का (जो सुषुम्णा नाड़ी में रहता है) प्रवर्तक है । इस श्लोक में तेज ही को उदान कहा गया है । इस का कारण यह है कि शरीर में जो एक प्रकार की उष्णता है (जिस के कारण शरीर चलता फिरता और काम करता है) वह उदान वायु के ही आश्रित है । उदान वायु का निरोध होने पर वह उष्णता शान्त हो जाती है और उस के शान्त होने पर जीवात्मा उस शरीर को त्याग कर मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, इसी को पुनर्भव या पुनर्जन्म कहते हैं । तात्पर्य यह कि जब तक शरीर में उदान वायु अपना काम करता है तब तक उस में उष्णता बनी रहती है जो कि जीवन का कारण है, उदान की गति का निरोध होते ही

शरीर ठण्डा पड़ जाता है और अन्य प्राण भी उस को छोड़ देते हैं और यही मरण है ॥ ९ ॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः । सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥ ३९ ॥

पदार्थः-(यच्चित्तः) मरण समय में जिस में चित्त वाला होता है अर्थात् जिन २ संस्कारों से युक्त होता है (तेन) उसी संकल्प से अर्थात् उन्हीं संस्कारों से (एषः) यह जीवात्मा (प्राणम्) इन्द्रियों के साथ प्राणवृत्ति को (आयाति) प्राप्त होता है । (प्राणः) प्राणवायु (तेजसा) उदानवायु से (युक्तः) मिला हुवा (आत्मना, सह) भोक्ता आत्मा के साथ (तम्) उस आत्मा को (यथासंकल्पितं, लोकम्) पाप पुण्य की वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को (नयति) पहुंचाता है ॥ १० ॥

भावार्थः-इस श्लोक में जीवात्मा की उत्क्रान्ति का क्रम दिखलाया गया है । मरण समय में अपने अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों की वासना के अनुसार जीवात्मा के जैसे संस्कार होते हैं, उन संस्कारों से युक्त हुवा जीवात्मा मुख्य करके प्राणवृत्ति का आश्रय करता है अर्थात् उस समय सब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाने पर केवल प्राण के आधार जीवात्मा रहता है क्योंकि जब तक श्वास लेता है, तब तक लोग कहते हैं कि अभी यह जीवित है । उस समय प्राण उदान से युक्त हुवा अर्थात् उदान को भी अपने साथ लेकर उस जीवात्मा को (जो अपने किये हुवे का फल भोगने वाला है) उस की पाप पुण्यरूप वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को पहुंचाता है । इस से सिद्ध है कि जीवात्मा के कर्म ही उस की शुभाशुभ गति के निमित्त हैं ॥ १० ॥

य एवं विद्वान् प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥ ४० ॥

पदार्थः-(यः, विद्वान्) जो बुद्धिमान् (एवम्) इस प्रकार (प्राणम्) प्राण को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस प्राणवित् की (प्रजा) इस से उत्पन्न होने वाली सन्तानादि (न, हीयते) क्षीण नहीं होती (अमृतः)

जन्ममरण रहित (भवति) हो जाता है (तत्) इस प्रसङ्ग में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ ११ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में आचार्य प्राणविद्या के फल को वर्णन करते हैं। उक्त प्रकार से जैसा कि वर्णन हुआ है, जो विद्वान् प्राण की विद्या को जानते हैं, उन को ऐहिक और आमुष्मिक दोनों फलों की प्राप्ति होती है अर्थात् प्राण की अनुकूलता से उन का शरीर नीरोग और मन स्वस्थ होता है, शरीर के आरोग्य और मन की स्वस्थता से शुद्ध एवं पुष्ट वीर्य उत्पन्न होता है, उस से उत्तम और बलिष्ठ सन्तान उत्पन्न होकर दीर्घायु होती है। यह तो ऐहिक फल हुआ। अब रहा आमुष्मिक फल, सो प्राण को ही वश में कर के मनुष्य समाधि का लाभ कर सकता है। जिस को पाकर जीवात्मा यह मरणशील शरीर रखता हुआ भी उस में ममत्व बुद्धि नहीं रखता और यही अमृतत्व है। अगला श्लोक भी इसी के फल को प्रतिपादन करता है:— ॥११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते
विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(प्राणस्य) प्राण की (उत्पत्तिम्) आत्मा से उत्पत्ति को (आयतिम्) कर्मानुसार शरीराभिगमन को (पञ्चधा) पांच प्रकार से अपना विभाग करके (स्थानम्) अपानादिरूप से पायूपस्थादि स्थानों में स्थिति को (विभुत्वम्) स्वामित्व को वा व्यापकत्व को (अध्यात्मम्) चक्षुरादि इन्द्रियों में प्राणादि रूप से आध्यात्मिक स्थिति को (च) सूर्यादि रूप से अग्न्यादि अधिभूतों में आधिभौतिक स्थिति को (विज्ञाय) जानकर (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त होता है। द्विर्वचन तृतीय प्रश्न की समाप्ति का सूचक है ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी प्राणविद्या का माहात्म्य वर्णन किया गया है। इस प्रकार जो मनुष्य प्राण की उत्पत्ति को कि यह आत्मरूप निमित्त से उत्पन्न होता है (आयति) शरीराभिगमन को कि स्वकृत कर्मानुसार शरीर में प्रवेश करता है (स्थान) स्थिति को कि अपने पांच विभाग करके पांच स्थानों में निवास करता है अर्थात् प्राणरूप से चक्षु और श्रोत्र में, अपान

रूप में गुदा और उपस्थ में, समानरूप से नाभि में, व्यानरूप से समस्त शरीर में, और उदानरूप से सुषुम्णा नाड़ी में रहता है, एवं उत्क्रान्ति को कि उदान के द्वारा यह शरीर से निकलता है तथा प्राण के समष्टि और व्यष्टि रूप भेद और इन के परस्पर सम्बन्ध को यथार्थरूप से जानता है, वह प्राणाग्नि में अपने सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दोषों को भस्म करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बनता है। द्विर्वचन यहां तीसरे प्रश्न की समाप्ति अथवा अपरा विद्यासम्बन्धी प्रश्न की समाप्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १२ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥ ३ ॥

—:o:—

अथ चतुर्थः प्रश्नः

—:o:—

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥ ॥ ४३ ॥

पदार्थः-(अथ) इन के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इन आचार्य से (सौर्यायणी, गार्ग्यः) सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे ब्रह्मन्! (एतस्मिन्, पुरुषे) इस शिर हस्तपादादि आकृति वाले पुरुष में (कानि) कौन करण (स्वपन्ति) सोते हैं (कानि) कौन (अस्मिन्) इस में (जाग्रति) जागते हैं (एषः, देवः) जो यह देव (स्वप्नान्) स्वप्नों को (पश्यति) देखता है (कतरः) कौन है ? (कस्य) किस को (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है (नु) प्रश्नार्थक (कस्मिन्) किस में (सर्वे) सब (सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति, इति) स्थित होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-पूर्व तीन प्रश्नों के द्वारा अपराविद्या विषयक कार्यमय जगत् की उत्पत्ति और समष्टि व्यष्टिरूप से प्राण की स्थिति आदि, आधिभौतिक विषयों का वर्णन किया गया, अब अगले तीन प्रश्नों के द्वारा पराविद्यागम्य,

अतीन्द्रिय, सत्य और शान्त आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन किया जाता है। जब मनुष्य कार्यरूप जगत् की अनित्यता को जान कर वैराग्यवान् होता है और फिर प्राण की उपासना से चित्त की एकाग्रता और पवित्रता को प्राप्त कर लेता है, तब वह पराविद्या का अधिकारी होता है, इस लिये अब वक्ष्यमाण तीन प्रश्नों के द्वारा पराविद्यागम्य अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। अब तृतीय प्रश्न के समाधान होने उपरान्त सौर्य का पुत्र गार्ग्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है। हे भगवन् ! इस हस्तपादादि आकृति वाले शरीर में मन आदि अन्तःकरणों में से और चक्षुरादि बाह्यकरणों में से कौन २ से करण सोते हैं अर्थात् अपने २ व्यापार से उपराम करते हैं ? तथा कौन २ इस में जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं ? और कौनसा देव स्वप्नों को देखता है ? जाग्रदवस्था के बाह्य अनुभव से निवृत्त होकर जाग्रत् के ही समान जो शरीर के भीतर अनुभव होता है, उस को स्वप्न कहते हैं, सो उस स्वप्न को कार्यरूप प्राणादि देखते हैं अथवा कारणरूप मन आदि ? और यह सुख किस को होता है अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न अवस्था के निवृत्त होने पर जो अनायास और निर्बाध सुख होता है वह किस को और क्योंकर होता है ? और किस में यह सब कार्य करण एक होकर स्थित होजाते हैं ?

इस श्लोक में शिष्य ने पांच प्रश्न किये हैं। १—"इस शरीर में कौन सोते हैं" इस प्रथम प्रश्न द्वारा जागरण का धर्मी पूछा गया है क्योंकि जागने वाला ही सोता है। २—"कौन जागते हैं" इस द्वितीय प्रश्न द्वारा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में शरीर की रक्षा करना किस का धर्म है ? यह पूछा गया है, क्योंकि जागने वाला ही रक्षा कर सकता है न कि सोने वाला। ३—"कौन स्वप्न को देखता है" इस तृतीय प्रश्न द्वारा स्वप्न का धर्मी पूछा गया है। ४—"किस को यह सुख होता है" इस चतुर्थ प्रश्न द्वारा सुषुप्ति का धर्मी पूछा गया है, क्योंकि सुषुप्ति के विना संसार में और कोई सुख का लक्षण नहीं है, दुःखी मनुष्य कभी सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और ५—"किस में ये सब स्थित होते हैं" इस पञ्चम प्रश्न द्वारा तीनों अवस्थाओं से रहित जहां सब कार्य और करणों का अवसान होजाता है, उस तुरीयावस्थागम्य आत्मा को पूछा गया है। अब इन का क्रम से आचार्य उत्तर देते हैं ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य ! मरी-
चयोऽर्कस्याऽस्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिं-
स्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः
पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं
परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष
पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति
न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते
नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते,
स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥ ॥ ४४ ॥

पदार्थः–(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला (गार्ग्य) हे गर्गकुलोत्पन्न ! (यथा) जैसे (अस्तं, गच्छतः) अस्त होते हुवे (अर्कस्य) सूर्य की (सर्वाः) सब (मरीचयः) किरणें (एतस्मिन्, तेजोमण्डले) इस तेजःपुञ्ज में (एकीभवन्ति) अविशेष रूप से एक होजाती हैं । (पुनः पुनः उदयतः) फिर फिर उदय होते हुवे उस सूर्य की (ताः) वे किरणें (प्रचरन्ति) फैलती हैं (एवम्) इसी प्रकार (ह, वै) निःसन्देह (तत्, सर्वम्) वह सब इन्द्रियादिजन्य ज्ञान (परे, देवे, मनसि) प्रकृष्टता से प्रकाशमान मन में (एकीभवति) लीन होजाता है । (तेन) इस कारण से (तर्हि) उस निद्रा की अवस्था में (एषः,पुरुषः) यह पुरुष (न, शृणोति) नहीं सुनता (न, पश्यति) नहीं देखता (न, जिघ्रति) नहीं सूंघता (न, रसयते) नहीं चखता (न, स्पृशते) नहीं छूता (न, अभिवदते) नहीं बोलता (न, आदत्ते) नहीं पकड़ता (न, आनन्दयति) नहीं सुख का अनुभव करता (न, विसृजते) नहीं छोड़ता और (न, इयायते) नहीं चलाता (स्वपिति, इति) किन्तु तब सोता है ऐसा (आचक्षते) कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः–इस श्लोक में पहिले प्रश्न का उत्तर दिया गया है जिस में यह पूछा गया था कि इस शरीर में कौन २ से करण सोते हैं अर्थात् निद्रा कब और क्यों होती है ? इस के उत्तर में आचार्य शिष्य के प्रति कहते हैं कि हे

जाय । जैसे सायंकाल को अस्त होते हुवे सूर्य की सब किरणें सिमट कर उस की तेजोराशि में (जो उन किरणों का केन्द्र है) लीन हो जाती हैं, जिस से वह अर्ध भूभाग जिस में सूर्य अस्त होता है अन्धकारमय हो जाता है और वे ही किरणें फिर प्रातःकाल को (जब सूर्य का उदय होता है) उस में से निकल कर सर्वत्र फैल जाती हैं । जिन से प्रकाश होकर दर्शनादि व्यवहार प्रवृत्त होते हैं । बस इसी प्रकार जब निद्राकाल में इन्द्रिय रूप किरणों का ज्ञानरूप प्रकाश उत्कृष्टता से प्रकाशमान मन रूप सूर्य में (जो उन का केन्द्र है) लीन हो जाता है (इन्द्रियों का नेता होने से मन को परम देव कहा गया है) तब निद्रारूप रात्रि प्रवृत्त होती है जिस में यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न छोड़ता है, न सुख का अनुभव करता है और न चलता फिरता है किन्तु "सोता है" ऐसा कहा जाता है । पुनः निद्रा के उपरत होने पर जब जागरण का समय आता है तब जैसे सूर्यमण्डल में से किरणें निकल कर संसार को प्रकाशित कर देती हैं, ऐसे ही मन में से एकीभूत इन्द्रियों की शक्ति निकल कर उन सब को पृथक् २ प्रकाशित कर देती है, जिस से श्रवण दर्शनादि सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत्त होने लगते हैं । तात्पर्य यह कि जैसे किरणों का सूर्य में लीन हो जाना रात्रि कहलाती है, इसी प्रकार इन्द्रियों का अपनी शक्तिरूप से मन में लीन हो जाना ही निद्रा या स्वप्नावस्था है ॥ २ ॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(एतस्मिन्, पुरे) इस नवद्वार वाले पुर अर्थात् शरीर में (प्राणाग्नयः, एव) प्राणादिरूप पांच अग्नि ही (जाग्रति) जागते हैं । (एषः, अपानः) यह अपान वायु (ह, वै) निश्चय (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है । (व्यानः) व्यान (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि है । (यत्) जो (गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्नि से (प्रणीयते) बनाया जाता है (प्रणयनात्) गार्हपत्य अग्नि से निष्पन्न होने से (प्राणः) प्राण वायु (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

भावार्थः–इस श्लोक में " कौन जागते हैं " इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस नवद्वार वाले शरीर में निद्रा के समय जब श्रोत्रादि इन्द्रिय सोते हैं अर्थात् मन में लीन हुवे अपने २ व्यापार से उपरत होते हैं तब पञ्च प्राण रूप अग्नि ही जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं। जागरण शील होने से ही प्राणों को अग्नि कहा गया है, क्योंकि निद्रा एक प्रकार का अन्धकार है, जैसे अन्धकार अपना प्रभाव और सब पदार्थों पर डाल सकता है अर्थात् उन को तिरोहित कर सकता है, परन्तु अग्नि को नहीं छिपा सकता। ऐसे ही निद्रा अन्य सब करणों को सुला सकती है, परन्तु प्राणों पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती। वे निद्रारूप अन्धकार के होने पर भी अग्निवत् सदा जागते ही रहते हैं। अब प्राणों की अग्नि से समानाधिकरणता दिखलाते हैं। अपान वायु ही गार्हपत्य अग्नि है, जैसे गार्हपत्य अग्नि से नैमित्तिक यज्ञों में आहवनीय अग्नि संयुक्त होता है, इसी प्रकार सुषुप्ति में अपान वायु से प्राण वायु का संचरण होता है अर्थात् सोते हुवे पुरुष का अपान वायु ही मुख, नासिका के छिद्रों से प्राणरूप हो कर निकलता है अतएव आहवनीय अग्नि प्राण वायु है, क्योंकि यह अपान रूप गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होता है। अब रहा दक्षिणाग्नि, सो उस की समानाधिकरणता व्यान के साथ है। व्यान यद्यपि समस्त शरीर में व्यापक है तथापि हृदय के दक्षिणदेशस्थ छिद्रों के द्वारा उस का निर्गम होने से तथा आहार के परिपाक में उस का उपयोग होने से उस को दक्षिणाग्नि वा अन्वाहार्यपचन कहा गया है ॥ ३ ॥

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नय-
तीति स समानः। मनो ह वाव यजमान
इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहर-
हर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥ ॥ ४८ ॥

पदार्थः–(यत्) जो (एतौ) इन (उच्छ्वासनिश्वासौ) श्वास और प्रश्वासरूप (आहुती) दो आहुतियों को (समं, नयति, इति) समता को प्राप्त कराता है इस से (सः) वह (समानः) समान वायु है (ह) प्रसिद्ध (मनः, वाव) मन ही (यजमानः) यज्ञ का कर्त्ता है (इष्टफलम्,

एव) यज्ञ का फल ही (उदानः) उदान वायु है । (सः) उदान (एनं, यजमानम्) इस मनरूप यजमान को (अहरहः) प्रतिदिन (ब्रह्म) परम सुख को (गमयति) पहुंचाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में प्राण, अपान और व्यान की समानाधिकरणता क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के साथ दिखला चुके हैं, अब इस श्लोक में समान और उदान की समानाधिकरणता कहते हैं। श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियों को समान रूप से जो प्राण में हवन करता है, वह होतृस्थानीय समान वायु है । जैसे होता आहवनीय अग्नि में अग्नि और सोम के लिये दो आज्यभागाहुतियों को समान रूप से पहुंचाता है, इसी प्रकार समान वायु श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियों को समभाग से प्राणाग्नि में हवन करता है, अतएव वह होतृस्थानीय है। सङ्कल्प विकल्पात्मक मन ही यजमान अर्थात् इस आध्यात्मिक यज्ञ का कर्ता है और उस यज्ञ का फल ही उदान वायु है जो कि मनरूप यजमान को प्रतिदिन सुषुप्ति में लेजाकर परमसुख का अनुभव कराता है। तात्पर्य यह है कि होता रूप समान वायु, अपनी श्वास और प्रश्वासरूप दो आहुतियों के द्वारा मन रूप यजमान को उदान रूप जो इस आध्यात्मिकयज्ञ का फल है, उसे प्राप्त कराता है । जो कि अग्नि तीन ही प्रकार का है और प्राण के पांच भेद हैं, इस लिये शेष समान और उदान की समानाधिकरणता होता और यज्ञफल के साथ की गई है । होता के द्वारा यज्ञफल की प्राप्ति यजमान को होती है, इस लिये मन को यजमान कहा गया है । जो कि ये सब पूर्वोक्त तीनों अग्नियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, इस लिये एक प्रकार से अग्नि के ही साथ इन की समानाधिकरणता समझनी चाहिये ॥ ४ ॥

> अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।
> यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थ-
> मनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं
> पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च
> श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चा-
> सच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥ ॥ ४७ ॥

पदार्थः-(अत्र) श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरत होने पर एवं शरीररक्षार्थ प्राणादि वायुओं के जागने पर अर्थात् जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच में (एषः, देवः) यह मनरूप देव (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (महिमानम्) अपनी विभूति को अर्थात् विषयरूप अनेक वस्तुओं को (अनुभवति) अनुभव करता है। (यत्) जिस को (दृष्टम्) पहिले देखा है उस को (दृष्टम्, अनुपश्यति) देखे हुवे के समान पुनः देखता है (श्रुतं, अर्थम्) सुनी हुई बात को (श्रुतम्, एव, अनुशृणोति) सुने हुवे के समान फिर सुनता है (देशदिगन्तरैः, च, प्रति, अनुभूतम्) देशान्तर और दिगन्तर में अनुभव किये हुवे को (पुनः, पुनः, प्रति, अनुभवति) वार २ अनुभव करता है (च) और (दृष्टम्) देखे हुवे को (च) और (अदृष्टम्) नहीं देखे हुवे को (च) और (श्रुतम्) सुने हुवे को (च) और (अश्रुतम्) नहीं सुने हुवे को (च) और (अनुभूतम्) अनुभव किये हुवे को (च) और (अननुभूतम्) अनुभव न किये गये को (च) और (सत्) विद्यमान को (च) और (असत्) अविद्यमान को (सर्वम्) उक्त अनुक्त सब को (पश्यति) देखता है (सर्वः) सब करणों को अपने में लीन करके मन (पश्यति) देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में "कौन सा देव स्वप्नों को देखता है" इस तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया है । जब श्रोत्रादि सब इन्द्रिय अपने २ काम से उपरत हो जाते हैं अर्थात् उन की वृत्ति मन में लीन हो जाती है, केवल प्राणादि पांच वायु इस शरीर में जागते हैं अर्थात् अपना अपना काम करते हैं, उस समय जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच में यह मनरूप देव पूर्व दृष्ट या श्रुत अर्थों को तथा देशान्तर और कालान्तर में अनुभूत अर्थों को उन के वासनाजन्य संस्कारों से उद्बोधित हुआ अपने में उन को देखता, सुनता और अनुभव करता है, इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं । यही नहीं कि केवल इसी जन्म या इसी शरीर में देखे, सुने और अनुभव किये अर्थों को देखता, सुनता और अनुभव करता है, किन्तु इस जन्म या शरीर में कभी न देखे, न सुने और न अनुभव किये अर्थों को भी पूर्वजन्म और पूर्वोपात्त शरीरों के वासनाजन्य संस्कारों के प्रभाव से देखता, सुनता और अनुभव करता है । कभी सत्=जो वस्तु जैसी है उस को वैसी ही देखता है, जैसे मनुष्यों का दौड़ना और पक्षियों का उड़ना इत्यादि । कभी असत्=जो जैसी

नहीं है, उस को भी वैसी देखता है, जैसे मनुष्यों का कहना और पशुओं
का बोलना इत्यादि अनेक व्यवहारों को स्वप्न में मनरूप देव सम्पूर्ण बाह्य
और अन्तःकरणों का अपने में समावेश करके देखता है ॥

यहां पर यह शङ्का होती है कि समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान की उपलब्धि
में मन तो आत्मा का एक कारणमात्र है; उस ज्ञान का स्वतन्त्रता से अनुभव
करने वाला तो केवल आत्मा है । फिर यहां श्रुति में स्वप्नज्ञान का अनुभव
करने वाला मन को क्यों कहा गया है ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि
प्रत्येक दशा में ज्ञान का अधिकरण केवल आत्मा ही हो सकता है तथापि
मन के संयोग के बिना केवल आत्मा में जाग्रदादि अवस्थायें बन नहीं सकतीं।
आत्मा अपने स्वरूप से न कभी सोता है और न जागता है, वह तो सदा
एकरस है, मन की ही उपाधि से उस में सोना और जागना आदि व्यवहार
होते हैं, अतः मन को ही इस का निमित्त मान कर (इस न्याय से कि "येन
विना यदनुत्पन्नं तत्तेनाक्षिप्यते" जिस के होने से जो होता है वह उस का
ही माना जाता है) स्वप्नज्ञान का अनुभविता मन को कहा गया है ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति । अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरएतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥ ४८ ॥

पदार्थः-(सः) वह मन (यदा) जब (तेजसा) वेग से (अभिभूतः, भवति) हीन हो जाता है (अत्र) इस दशा में (एषः, देवः) यह मन (स्वप्नान्) स्वप्नों को (न, पश्यति) नहीं देखता (अथ) इस के अनन्तर (तदा) तब (एतस्मिन्, शरीरे) इस शरीर में (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-इस श्रुति में आचार्य "किस को यह सुख होता है" इस चौथे
प्रश्न का उत्तर देते हैं । जब वह मन तेज से अभिभूत (वेगरहित=एकाग्र)
होकर निश्चेष्ट हो जाता है, तब सुषुप्ति वा समाधि की अवस्था होती है ।
इन में इतना भेद है कि जब सांसारिक सुख से तृप्त होकर मन शान्त होता
है, उस को सुषुप्ति और जब पारमार्थिक अगाध सुख का अनुभव करके निश्चल
और निश्चेष्ट हो जाता है, उस को समाधि वा तुरीयावस्था कहते हैं । इन
दोनों अवस्थाओं में मन की गति का निरोध होने से न कोई स्वप्न दीखता

है और न किसी दुःख का अनुभव होता है। यद्यपि सुषुप्ति में दुःख का अभाव क्षणिक है, तथापि चाहे थोड़ी देर के लिये ही क्यों न हो, संसार में दुःख से छुटकारा केवल सुषुप्ति में ही जाकर मिलता है। बस इन्हीं दोनों अवस्थाओं में जब मन अनात्मवस्तुओं के संसर्ग से रहित होकर निश्चेष्ट हो जाता है (और यही उस का वेग से अभिभूत होना है) तब उस को इस शरीर में ही उस निराबाध सुख की (जो पूछा गया है) उपलब्धि होती है ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥ ४९ ॥

पदार्थः-(सः, यथा) सो जैसे (सोम्य) हे प्रियदर्शन! (वयांसि) पक्षिगण (वासोवृक्षम्) निवासार्थ वृक्ष में (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (ह, वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत्, सर्वम्) वह वक्ष्यमाण सब कुछ (परे, आत्मनि) इन से सूक्ष्म आत्मा में (संप्रतिष्ठते) स्थिति पकड़ता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-अब इस श्रुति में पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जिस में पूछा गया था कि "किस वस्तु में यह सब पदार्थ स्थित होते हैं" पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सोम्य! जिस प्रकार रात्रि में पक्षिगण निवास के लिये वृक्ष का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार प्रलयरूप महारात्रि में यह सब कुछ जिस का विवरण अगली श्रुति में किया गया है, उस अक्षर परमात्मा में लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहं-

कर्त्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्यो-
तयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥ ५० ॥

पदार्थः-(पृथिवी, च, पृथिवीमात्रा, च) पृथिवी और उस की मात्रा गन्ध (आपः, च, आपोमात्रा, च) जल और उस की मात्रा रस (तेजः, च, तेजोमात्रा, च) तेज और उस की मात्रा रूप (वायुः, च, वायुमात्रा, च) वायु और उस की मात्रा स्पर्श (आकाशः, च, आकाशमात्रा, च) आकाश और उस की मात्रा शब्द [यहां तक स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् कार्य कारण रूप से पञ्चमहाभूत हुये] (चक्षुः, च, द्रष्टव्यं, च) आंख और देखने योग्य वस्तु (श्रोत्रं, च, श्रोतव्यं, च) कान और सुनने योग्य वस्तु (घ्राणं, च, घ्रातव्यं, च) नाक और सूंघने योग्य वस्तु (रसः, च, रसयितव्यं, च) रसना और रस लेने योग्य वस्तु (त्वक्, च, स्पर्शयितव्यं, च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु (वाक्, च, वक्तव्यं, च) वाणी और कहने योग्य वस्तु (हस्तौ, च, आदातव्यं, च) दो हाथ और उन से ग्रहण करने योग्य वस्तु (उपस्थः, च, आनन्दयितव्यं, च) उपस्थ इन्द्रिय और उस के द्वारा प्राप्त होने वाला रतिजन्य सुख (पायुः, च, विसर्जयितव्यं, च) गुदेन्द्रिय और उस का काम विसर्जन (पादौ, च, गन्तव्यं, च) दो पैर और उन का कार्य गमन [यहां तक ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय जिन को बाह्यकरण कहते हैं, पूर्ण हुवे] (मनः, च, मन्तव्यं, च) मन और मनन करने योग्य वस्तु (बुद्धिः, च, बोद्धव्यं, च) बुद्धि और जानने योग्य वस्तु (अहङ्कारः, च, अहंकर्त्तव्यं, च) अहङ्कार और अहं करने योग्य वस्तु (चित्तं, च, चेतयितव्यं, च) चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु [यहां तक चार अन्तःकरण पूरे हुवे] (तेजः, च, विद्योतयितव्यं, च) तेज और प्रकाश करने योग्य वस्तु (प्राणः, च, विधारयितव्यं, च) प्राण और धारण करने योग्य वस्तु ॥ ८ ॥

भावार्थः-वह सब कुछ क्या है ? बस इसी का विवरण इस श्रुति में किया गया है । यों तो संसार में अनेक और असंख्य पदार्थ हैं जिन का कोई सैकड़ों वर्ष पर्यन्त नाम निर्देशमात्र ही करता रहे तो भी पार नहीं पासक्ता। परन्तु महर्षि पिप्पलाद निम्नलिखित चार श्रेणियों में उन सब का समावेश करके सागर को गागर में भरे देते हैं । पहिली श्रेणी में पृथिवी, अप्, तेज,

वायु और आकाश; ये पञ्चमहाभूत और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पांच उन की सूक्ष्मतन्मात्रायें निर्दिष्ट हैं, सारा प्रकृत जगत समष्टिरूप से इन में आजाता है। दूसरी श्रेणी में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच उन के विषय एवं पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ही उन के कर्म सन्निविष्ट हैं। सम्पूर्ण जगत् के होते हुवे भी यदि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय न होते तो क्या ज्ञान और कर्म के विना एक दिन भी यह सृष्टि का प्रवाह चल सकता था? कदापि नहीं। तीसरी कक्षा में मन आदि चार अन्तःकरण हैं, आंख के होते हुवे भी यदि मन न होता तो क्या हम उस से कुछ देख सकते थे? कान के होते हुवे भी यदि बुद्धि न होती तो क्या हम उस से कुछ सुन सकते थे? वाणी के होते हुवे भी यदि चित्त न होता तो क्या हम उस से कुछ लाभ उठा सकते थे? कुछ नहीं, कदापि नहीं॥

चौथी कक्षा में वही तेज रूप प्राण रक्खे गये हैं कि जो इस शरीर के प्रकाशक और विधारक हैं। मन आदि अन्तःकरणों के होते हुवे भी यदि प्राण न होते तो क्या हम उन से मनन, चिन्तन आदि कर सकते थे, कदापि नहीं। बस यह चारों प्रकार का जगत् जो उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, सुषुप्ति वा समाधि में (जैसे रात्रि में पक्षिगण वृक्ष का आश्रय लेते हैं) आत्मा में आकर (जो इस का एकमात्र आधार है) स्थिति पकड़ता है॥ ८॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।
स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ ९॥ ५१॥

पदार्थः—(हि) निश्चय (एषः) यह (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला (रसयिता) चखने वाला (मन्ता) मनन करने वाला (बोद्धा) जानने वाला (कर्त्ता) अपनी स्वतन्त्रता से शुभाऽशुभ कर्मों को करने वाला (विज्ञानात्मा) ज्ञान का अधिकरण अर्थात् ज्ञानस्वरूप (पुरुषः) कार्यकरणसंघात का प्रेरक होने से जीवात्मा है। (सः) वह भी (परे, अक्षरे, आत्मनि) अपने से पर अक्षर परमात्मा में (संप्रतिष्ठते) ठहरता है॥ ९॥

भावार्थः-पहिली श्रुति में जो चार कोटि वर्णन की गई थीं, वे चारों प्राकृत जगत् से ही सम्बन्ध रखती हैं जीवात्मा इन सब से अतिरिक्त है, जिस को आचार्य इस श्रुति के द्वारा पांचवीं कोटि में वर्णन करते हैं। पञ्च-महाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण इन सब के होते हुये कल्पना करो कि यदि जीवात्मा न होता तो क्या ये सब के सब व्यर्थ न हो जाते? अवश्यमेव व्यर्थ हो जाते। बस जो आंखों से देखता है, त्वक् से स्पर्श करता है, श्रोत्र से सुनता है, घ्राण से सूंघता है, रसना से चखता है, मन से मनन करता है, बुद्धि से जानता है और अपनी स्वतन्त्रता से समस्त शुभाशुभ कर्मों को करता है, वह ज्ञान का अधिकरण (जिस में तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञान रहता है) जीवात्मा है। वह भी उसी अक्षर परब्रह्म में, जिस में यह सारा प्राकृत जगत् कारण रूप से लीन होता है, अपने वास्तविक रूप से अवस्थित होता है ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायम-
शरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयतेयस्तु सोम्य ।
स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेषश्लोकः ॥ १० ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियदर्शन! (यः, तु) और जो (ह, वै) निस्सन्देह (यः) जो (तद्) उस (अच्छायम्) तमस् अर्थात् अज्ञान से वर्जित (अशरीरम्) तीनों प्रकार के शरीर से रहित एवं तदनुयायिनी तीनों अवस्थाओं से वर्जित तथा तन्निमित्त तीनों गुणों से शून्य (अलोहितम्) रक्तादि सब गुणों से रहित (शुभ्रम्) निर्मल (अक्षरम्) अविनाशी ब्रह्म को (वेदयते) जानता है (सः) वह (परम्, एव, अक्षरम्) परम अविनाशी ब्रह्म को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है (सः) वह (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वः) सर्वत्र (भवति) होता है (तद्) इसी विषय में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ १० ॥

भावार्थः-अब इस श्रुति में आचार्य ब्रह्मज्ञान का फल प्रतिपादन करते हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से अतीत, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से वर्जित; कारण, सूक्ष्म स्थूल इन तीनों प्रकार के शरीरों से रहित; रक्त पीतादि वर्ण और गुणों से शून्य अतएव अतीन्द्रिय शुद्ध अविनाशी ब्रह्म को [जिस में यह सारा ब्रह्माण्ड स्थूल पञ्चमहाभूतों से

लेकर सूक्ष्म जीवात्मापर्यन्त प्रलय में लीन हो जाता है] जो पुरुष जानता है, उस को फिर क्या जानना शेष रह जाता है? "तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" उस ही के जानने पर यह सब कुछ जाना जाता है। अतएव वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ (अप्रतिहतज्ञान) होकर जीवन्मुक्त हुआ सर्वत्र ब्रह्मानन्द में रमण करता है "सर्वो भवति" यहां "मञ्चाः क्रोशन्ति" के समान लाक्षणिक अर्थ की योग्यता है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥ ११ ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियदर्शन! (प्राणाः) पांचों प्राण (भूतानि) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत (सर्वैः, देवैः, सह) चक्षुरादि इन्द्रियों तथा सूक्ष्म तन्मात्राओं के साथ (यत्र) जिस विराट् पुरुष में (संप्रतिष्ठन्ति) ठहरते हैं (तद्, अक्षरम्) उस अक्षर को (यः, विज्ञानात्मा) जो जीवात्मा (वेदयते) जानता है (सः) वह (सर्वज्ञः) त्रिकालज्ञ होकर (सर्वम्, एव, आविवेश, इति) सब को ही प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

भावार्थः-उक्तार्थ को ही यह मन्त्र भी पुष्ट करता है। जिस भूमा पुरुष में प्राण इन्द्रियों और पृथिव्यादिभूत अपनी सूक्ष्म तन्मात्राओं के सहित संप्रतिष्ठित हो जाते हैं अर्थात् जो कार्य कारण दोनों दशाओं में सारे विश्व का अधिष्ठान है, उस अविनाशी ब्रह्म को जो पुरुष यथार्थरूप से जान लेता है उस के लिये कौन सी वस्तु अज्ञात और कौन सा देश अप्राप्य है? कोई भी नहीं ॥ ११ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥

—:o:—

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥ ५४ ॥

पदार्थः— (अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (शैब्यः, सत्यकामः) शिबि के पुत्र सत्यकाम ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे ब्रह्मन्! (ह, वै) प्रसिद्ध (मनुष्येषु) मनुष्यों में (सः, यः) जो कोई (प्रायणान्तम्) मरणपर्यन्त (तत्) उस ब्रह्म के वाचक (ओंकारम्) प्रणव का (अभिध्यायीत) समाहितचित्त होकर ध्यान करे (वाव) निश्चय (सः) वह ध्याता (तेन) उस प्रणव के ध्यान से (कतमं, लोकम्) कौन से लोक को (जयति, इति) जीतता है॥ १॥

भावार्थः—चतुर्थ प्रश्न द्वारा उत्तमाधिकारियों को द्रव्यशुद्धि और साधन-पूर्ति पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कह कर अब मन्दवैराग्य वाले मध्यमाधिकारियों को प्रणव की उपासना के द्वारा क्रमशः ब्रह्मप्राप्ति करने के लिये इस पञ्चम प्रश्न का प्रारम्भ करते हैं। सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न का समाधान होने उपरान्त शैब्य सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि भगवन्! मनुष्यों में जो कोई शुद्ध संस्कारवान् मरणपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन समाहितचित्त होकर वाच्य और वाचक की अभिन्नता से ब्रह्म के वाचक प्रणव का ध्यान करे तो इस ध्यानरूप कर्म के करने से वह ध्यान का कर्त्ता कौन से लोक को जीतता है अर्थात् किस गति को प्राप्त होता है?॥ १॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम! परं
चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वा-
नेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥ ५५॥

पदार्थः—(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सत्यकाम) हे सत्यकाम! (यत्) जो (परं, च, अपरं, च ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है (एतद्, वै) यही (ओंकारः) ओंकार है (तस्मात्) इस लिये (विद्वान्) सदसद्विवेकी पुरुष (एतेन, एव, आयतनेन) इस ही अवलम्ब से (एकतरम्) पर और अपर इन दोनों पदों में से स्वाभीष्ट एक को (अन्वेति) प्राप्त होता है॥ २॥

भावार्थः—उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुये पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सत्यकाम! पर और अपर रूप से दो प्रकार का जो ब्रह्म है अर्थात् वाचक

(शब्द) रूप से अपर ब्रह्म और वाच्य (अर्थ) रूप से परब्रह्म, सो यह दोनों प्रकार का ब्रह्म ओंकार ही है । वाच्य वाचक की अभिन्नता मानकर यह कहा गया है, लोक में भी ऐसा व्यवहार देखने में आता है । यथा "देवदत्त वहां जायगा, यज्ञदत्त यह काम करेगा" इत्यादि । देवदत्त और यज्ञदत्त संज्ञा हैं, तथा जाना और काम करना यह संज्ञी के धर्म हैं, नकि संज्ञा के । परन्तु संज्ञा के साथ संज्ञी का अभेदान्वय होने से वे केवल संज्ञा से निर्देश किये जाते हैं । इसी प्रकार संज्ञी ब्रह्म का संज्ञा प्रणव के साथ अभेद होने से तद्द्वारा उस का निर्देश किया गया है । अतएव ध्यानशील विद्वान् इस ही ओंकार का अवलम्बन करने से अभ्युदय और मोक्ष इन दोनों फलों में से जिस को चाहता है, ले सकता है । कठोपनिषद् में भी निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा इसी ओंकार का माहात्म्य वर्णन किया गया है । "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छति तस्य तत् ॥ एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" यह ही अक्षर (ओ३म्) ब्रह्म है, यह ही अक्षर (पर) सब से उत्कृष्ट है, इस ही अक्षर (ओ३म्) को जानकर जो, जो चाहता है वह उस का है । यह आलम्बन श्रेष्ठ है, यह अवलम्बन सर्वोत्तम है, इस ही आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महत्त्व को पाता है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-
स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो मनुष्य-
लोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥ ४६ ॥

पदार्थः-(सः) वह ध्यान करने वाला (यदि) जो (एकमात्रम्) ओंकार की एक मात्रा [अकारमात्र] को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह एक मात्रा का ध्यान करने वाला (तेन, एव) उस ही एक मात्रा के ध्यान से (संवेदितः) सम्यग् बोधित हुवा (तूर्णम्, एव) शीघ्र ही (जगत्याम्) पृथिवी में (अभिसंपद्यते) सब ओर से सम्पन्न होता है । (तम्) उस को (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (मनुष्यलोकम्) मनुष्यलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण सुखों

को (उपनयन्ते) समीपता से प्राप्त कराते हैं (सः) वह ऋग्वेद के मन्त्रों से मनुष्यलोक के समस्त सुखों को प्राप्त हुआ मनुष्य (तत्र) उस मनुष्यलोक में तपसा धर्म के आचरण से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियनिग्रह से और (श्रद्धया) आस्तिक्यबुद्धि से (संपन्नः) युक्त हुआ (महिमानम्) ब्रह्म के महत्त्व को (अनुभवति) अनुभव करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-समष्टिरूप से सम्पूर्ण प्रणव के ध्यान का फल कहकर अब व्यष्टिरूप से उस की एक २ मात्रा के ध्यान का फल कहते हैं । ओंकार में तीन मात्रा (अक्षर) हैं—अ, उ, म् । इन का विस्तारपूर्वक व्याख्यान माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है, यहां पर केवल इन की उपासना का फल वर्णन किया गया है । पहिली मात्रा अकार है । जो मनुष्य यम नियमादि साधनों से संपन्न होकर एवं प्रणव के वाच्य पर श्रद्धा और विश्वास को धारण करके पहिली मात्रा का ध्यान करता है [आत्मप्रत्यय के दृढ़ होने से तद्भिन्न प्रत्ययों का विलीन होना ही यहां ध्यान शब्द का अभिप्राय है] वह तन्मय होकर एकमात्राविशिष्ट ओंकार के ध्यान करने से ही विच्छिन्न तमआवरण होकर विज्ञान से प्रकाशित हुआ पृथिवी में सुशोभित होता है । उस को ऋग्वेद के मन्त्र मनुष्यलोक और उस के सम्पूर्ण अभ्युदय को प्राप्त कराते हैं । तब वह इस मनुष्यलोक में श्रेष्ठगति को पाकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से संपन्न हुआ ब्रह्म के महत्त्व का अनुभव करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं
यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके
विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ ॥ ५७ ॥

पदार्थः-(अथ) और (यदि) जो (द्विमात्रेण) अकार, उकार दो मात्राओं से (मनसि) मन में (संपद्यते) प्राप्त होता है अर्थात् ध्यान करता है (सः) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ (सोमलोकम्) चन्द्रलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद के द्वारा (उन्नीयते) ले जाया जाता है (सः) वह (सोमलोके) चन्द्रलोक में (विभूतिम्) ऐश्वर्य को (अनुभूय) अनुभव करके (पुनः) फिर (आवर्त्तते) इस पृथिवी पर आता है ॥ ४ ॥

भावार्थः–इसी प्रकार जो अकार उकार दो मात्राओं से मननपूर्वक ब्रह्म का ध्यान करता है वह यजुर्वेद के द्वारा चन्द्रलोक को पहुंचाया जाता है। वहां अनेक प्रकार के दिव्य भोगों को भोग कर फिर वह इस मर्त्यलोक में जन्म लेता है। यद्यपि मनुष्यलोक की अपेक्षा चन्द्रलोक विशेष माना गया है, तथापि ब्रह्मलोक की अपेक्षा [जो वक्ष्यमाण त्रिमात्र ओङ्कार की उपासना से प्राप्त होता है] कुछ भी नहीं ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरीशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥ ॥ ५८ ॥

पदार्थः–(पुनः) फिर (यः) जो (त्रिमात्रेण) अ, उ, म् तीन मात्रा वाले (ओम् इति, एतेन, एव, अक्षरेण) "ओ३म्" इस ही अक्षर से (एतं, परं, पुरुषम्) इस परब्रह्म को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह (तेजसि, सूर्ये) तेजवाले सूर्यलोक में (संपन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदरः) उदर ही पैर हैं, जिस के ऐसा सर्प (त्वचा) कैंचुली से (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (ह, वै) निस्सन्देह (एवम्) इस ही प्रकार (सः) वह त्रिमात्र "ओ३म्" का ध्याता (पाप्मना) पापरूप मल से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मन्त्रों से (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (उन्नीयते) सब के ऊपर ले जाया जाता है (सः) वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ (एतस्मात्, परात्, जीवघनात्) इस समस्त जीवों के सूक्ष्म संघात से (परम्) सूक्ष्म (पुरीशयम्) समस्त विश्व में व्यापक (पुरुषम्) पूर्ण पुरुष को (ईक्षते) देखता है (तत्) इस विषय में (एतौ, श्लोकौ) वक्ष्यमाण ये दो श्लोक (भवतः) प्रस्तुत हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—जब जो शम दमादि साधनों से युक्त हुआ मनुष्य ओंकार से अर्थात् अ, उ, म् इन तीनों मात्राओं से विधिपूर्वक उस परम पुरुष का ध्यान करता है, प्रथम वह तेज से सम्बद्ध होकर सूर्यलोक में जाता है, पुनः कैंचुली छोड़े हुवे सर्प के समान पापरूप मल की आवरण से मुक्त हुआ सामवेद के द्वारा सर्वोपरि ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। जिस ब्रह्मलोक को पाकर फिर वह इस जीवसंघातरूप कार्यकारणात्मक जगत् में सिवाय उस परम पुरुष के कि जो चराचर विश्व में ओत प्रोत हो रहा है और किसी को नहीं देखता अर्थात् केवल ब्रह्ममय और ब्रह्मपर होजाता है, इसी की पुष्टि अगले दो श्लोक भी करते हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥ ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(अन्योन्यसक्ताः) परस्पर सम्बद्ध (अनविप्रयुक्ताः) ध्येय में प्रयोग न करके केवल शब्द में ही प्रयोग की गईं (तिस्रः, मात्राः) अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रायें (मृत्युमत्यः) मरणधर्म वाली (प्रयुक्ताः) कही गई हैं। (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु क्रियासु) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिरूप क्रियाओं में अथवा यज्ञ, प्राणायाम और मानसजपादि क्रियाओं में (सम्यक्, प्रयुक्तासु) भली भान्ति प्रयोग करने पर (ज्ञः) बुद्धिमान् प्रयोक्ता (न, कम्पते) नहीं चलायमान होता ॥ ६ ॥

भावार्थः—परस्पर संबद्ध अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली तीन मात्रायें यदि ध्येयवर्जित हों अर्थात् केवल उन का उच्चारणमात्र किया जाय किन्तु उन से ध्येय ब्रह्म का मनन एवं निदिध्यासन न किया जाय, तो वे मनुष्य को जन्ममरण के चक्र से नहीं बचा सकतीं प्रत्युत और इस में फंसा देती हैं। हां जो बुद्धिमान् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में क्रमशः यज्ञ, प्राणायाम और मानस जप इन तीन बाह्य मध्यम और आभ्यन्तर क्रियाओं के द्वारा इन तीनों मात्राओं का समावेश करता है अर्थात् अकार से यज्ञादि का अनुष्ठान करता हुवा जाग्रत् अवस्था को जीतता है, उकार से प्राणायाम करता हुवा स्वप्न को वश में करता है और मकार से

मानस जप करता हुआ सुषुप्ति को जीत लेता है, वह ध्येय में समावेशित चित्त इन मात्राओं के ठीक २ प्रयोग करने से चलायमान नहीं होता। तात्पर्य यह कि जहां इन का यथार्थप्रयोग मनुष्य को अमृत पद का भागी बनाता है, वहां इन का अन्यथा प्रयोग और भी मृत्यु की दलदल में फंसा देता है। इस लिये शास्त्र की विधि और विद्वान् आचार्य के उपदेशानुसार ही इस मार्ग में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिये, न कि स्वेच्छाचार से ॥ ६ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो
वेदयन्ते। तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥ ६० ॥

पदार्थः-(ऋग्भिः) ऋग्वेद से (एतम्) इस मनुष्यलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष सम्बन्धी सोमलोक को (सामभिः) सामवेद से (यत् तत्) जिस उस को (कवयः) विद्वान् लोग (वेदयन्ते) जानते हैं (तम्) उक्त तीनों लोक को (विद्वान्) सद्सद्ज्ञाता (ओंकारेण, एव, आयतनेन) ओंकार ही के अवलम्ब से (अन्वेति) प्राप्त होता है (यत्) जो कि (शान्तम्) रागादि दोषरहित (अजरम्) जरारहित (अमृतम्) मरणवर्जित (अभयम्) अद्वैत होने से भयरहित (परम्) सर्वोत्कृष्ट है (तत्) उस ब्रह्म को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-इस मन्त्र के द्वारा उपसंहार करते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस ओंकार के ही विधिपूर्वक अवलम्बन करने से ध्याता यथेष्ट फल को प्राप्त होता है, अर्थात् एक मात्रा के ध्यान से ऋग्वेद के द्वारा मनुष्यलोक के सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है, दो मात्राओं के ध्यान से यजुर्वेद के द्वारा चन्द्रलोक के समस्त सुखों को प्राप्त करता है, एवं तीन मात्राओं के विधिपूर्वक ध्यान से सामवेद के द्वारा उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिस को विद्वान् लोग ही जानते हैं और जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और पर नामों से निर्देश किया जाता है ॥ ७ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन् ! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारमब्रुवं, नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (सुकेशा, भारद्वाजः) भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (हिरण्यनाभः, कौसल्यः, राजपुत्रः) कोसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने (माम्, उपेत्य) मेरे पास आकर (एतं, प्रश्नम्) इस प्रश्न को (अपृच्छत) पूछा था कि (भारद्वाज) हे भरद्वाज के पुत्र ! (षोडशकलं, पुरुषम्) सोलह कला वाले पुरुष को (वेत्थ) जानता है ?, (अहम्) मैंने (तं, कुमारम्) उस राजकुमार से (अब्रुवम्) कहा कि (अहम्) मैं (इमम्) इस पुरुष को (न, वेद) नहीं जानता, (यदि) जो (अहम्) मैं (इमम्) इस को (अवेदिषम्) जानता होता तो (कथम्) क्योंकर (ते) तेरे लिये (न, अवक्ष्यम्, इति) नहीं कहता । (वै) निश्चय (एषः) यह (समूलः) मूलसहित (परिशुष्यति) सूख जाता है (यः) जो (अनृतम्) झूंठ (अभिवदति) बोलता है, (तस्मात्) इस लिये (अनृतं, वक्तुम्) झूंठ कहने को (न, अर्हामि) समर्थ नहीं हूं । (सः) वह राजकुमार (तूष्णीम्) चुपचाप (रथम्, आरुह्य) रथ में सवार होकर (प्रवव्राज) चला गया । (तम्) उस पुरुष को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) पूछता हूं कि (असौ, पुरुषः) यह पुरुष (क्व, इति) कहां है ॥ १ ॥

भावार्थः-अब पञ्चम प्रश्न का उत्तर हो जाने के पश्चात् भरद्वाज का पुत्र सुकेशा भगवान् पिप्पलाद से पूछता है-हे भगवन् ! पहिले कभी कोसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया था कि हे भारद्वाज ! तू उस षोड़श कला वाले पुरुष को जानता है ? मैंने इस के उत्तर में कहा कि मैं नहीं जानता, मेरे सच २ कह देने पर भी जब उसे विश्वास न हुवा तब मैंने कहा कि यदि मैं जानता होता तो भला तुझ से अधिकारी को पाकर क्यों न कहता । जब इस पर भी मैंने उस को सन्तुष्ट न पाया, तब शपथ पूर्वक कहा कि जो झूठ बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है, इस लिये मैं तुझ से कभी झूठ नहीं बोल सकता । यह सुनकर वह राजकुमार चुपचाप अपने रथ में सवार होकर जहां से आया था वहीं को चला गया । इस लिये हे आचार्यप्रवर ! अब मैं आप से पूछता हूं कि वह षोडश कला वाला पुरुष क्या है और कहां है ? कृपया मेरे प्रति उपदेश कीजिये ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥ ॥ ६२ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह पिप्पलाद ऋषि (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सोम्य) हे प्रियदर्शन ! (इह, एव, अन्तःशरीरे) इस ही शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में (सः, पुरुषः) वह पुरुष है (यस्मिन्) जिस में (एताः, षोडश, कलाः) ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें (प्रभवन्ति, इति) उत्पन्न होतीं हैं ॥ २ ॥

भावार्थः-अब आचार्यप्रवर पिप्पलाद ऋषि सुकेशा से प्रश्न का उत्तर देते हुवे कहते हैं-हे सोम्य ! वह पुरुष कि जिस में ये सोलह कलायें (जिन का वर्णन आगे आवेगा) उत्पन्न होती हैं, इसी शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में निवास करता है । यद्यपि वह पुरुष पूर्ण होने से सर्वत्र ही व्यापक है, तथापि जीवात्मा को साक्षात् होने से हृत्पुण्डरीक देश में उस की स्थिति कही जाती है, इसी स्थान में योगीजनों को समाधि के द्वारा उस का साक्षात्कार होता है । जो लोग अपने भीतर उस को न खोज कर बाहर ढूंढते फिरते हैं और १६ कला का अवतार मानते हैं, उन को इस श्रुति के तात्पर्य पर ध्यान देना चाहिये । यद्यपि स्वरूप से वह पुरुष निष्कल

है अर्थात् सर्वत्र पूर्ण और विभु होने से उस में कोई कला या क्रिया ठहर ही नहीं सकती, तथापि अध्यारोप से ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें उस में आरोपित की जाती हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना हम ब्रह्म के महत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते और न प्रतिपाद्य और प्रतिपादकादि व्यवहार प्रवृत्त हो सकते हैं, अतः जगत् को सकर्तृक सिद्ध करने के लिये और प्रत्यक्ष दृष्टान्त से परोक्ष दार्ष्टान्त की प्रतिपत्ति के लिये हमें इस अध्यारोप का आश्रय लेना पड़ता है अर्थात् अचल और निष्कल ब्रह्म में क्रिया और कला माननी पड़ती हैं। इस की पुष्टि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का पांचवां मन्त्र भी करता है। वह यह है:-"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्यास्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"। इस मन्त्र में ब्रह्म को एजन क्रिया का कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों माना गया है। तात्पर्य यह कि वह अपने वास्तविक स्वरूप से तो अचल है, परन्तु इस चलायमान जगत् में व्यापक होकर इस का चलने वाला है, इस लिये उस में भी चलत्व धर्म आरोपित किया गया है। दृष्टान्त की रीति पर इसे यों समझना चाहिये- जैसे प्रायः यह कहा जाता है कि "आग जलती है" वास्तव में आग तो जलाती है, जलता है इन्धन, परन्तु आग इन्धन में व्यापक है, इस लिये इन्धन का धर्म आग में आरोपित कर लिया जाता है। बस इसी के अनुसार यहां भी अध्यारोप से वक्ष्यमाण सोलह कलाओं की उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म में माने गये हैं, वस्तुतः वह इन से पृथक् है॥ २॥

स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि॥ ३॥ ॥ ६३॥

पदार्थः-(सः) उस पुरुष ने (ईक्षाञ्चक्रे) ईक्षण अर्थात् विचार किया। (अहम्) अहं रूप से युक्त मैं (कस्मिन्) किस वस्तु के (उत्क्रान्ते) निकल जाने पर (उत्क्रान्तः, भविष्यामि) निकल सा जाऊंगा (वा) और (कस्मिन्) किस के (प्रतिष्ठिते) प्रतिष्ठित होने पर (प्रतिष्ठास्यामि) प्रतिष्ठित सा होऊंगा॥ ३॥

भावार्थः-परमात्मा जब सृष्टि बनाना चाहता है तब सब से पहिले यह ईक्षा (विचार) करता है और इसी को उस का "तप" भी कहते हैं "यस्य

ज्ञानमयं तपः" उस का विचार ही तप है अर्थात् सृष्टि बनाने से पूर्व वह यह सोचता है कि मैं जिस आधेयरूप जगत् को बनाना चाहता हूं, उस का आधार क्या हो सकता है ? अर्थात् वह कौन सी वस्तु है ? कि जिस के निकलने पर शरीर से अहंतत्त्व निकल जाता है और जिस के प्रतिष्ठित होने पर ही वह भी शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। उत्क्रान्ति और स्थिति अहंतत्त्व के धर्म हैं। यहां ब्रह्म में जो उन का आरोप किया गया है, वह केवल सहचार से है। जैसे देह के सहचार से जीवात्मा का जन्म मरण कहा जाता है, जो कि अजर और अमर है। इसी प्रकार यहां प्रकृति के कार्य अहंतत्त्व के साहचर्य से परमात्मा में उत्क्रान्ति और स्थिति आदि धर्म आरोपित किये गये हैं ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥४॥६४॥

पदार्थः-(सः) उस परमात्मा ने (प्राणम्) प्राण को (असृजत) उत्पन्न किया (प्राणात्) प्राण से (श्रद्धाम्) शुभ कर्म में प्रवृत्त कराने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि को, उस से (खं, वायुः, ज्योतिः, पृथिवी, इन्द्रियं, मनः) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्चमहाभूत और इन्हीं के विकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और इन का नायक सङ्कल्पविकल्पात्मक मन, इन सब को उत्पन्न किया। इस के पश्चात् (अन्नम्) अन्न (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) बल, फिर (तपः) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप (मन्त्राः) ऋग्यजुः सामाथर्व के मन्त्र (कर्म) यज्ञादि कर्म (लोकाः) कर्मफल के अधिष्ठान सोमादि लोक (लोकेषु) उन लोकों में (नाम, च) संज्ञादि व्यवहार भी उत्पन्न किये ॥ ४ ॥

भावार्थः-अब क्रमशः सोलह कलाओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। ईक्षा (विचार) करने के पश्चात् ईश्वर ने सब से पहिले जगत् के आधार जीवात्मा के उपयोगी प्राण को उत्पन्न किया। प्राण की उत्पत्ति के पश्चात् सत्य को धारण करने वाली, विश्वास की जननी तथा मनुष्यों को शुभकर्म में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा (निश्चयात्मिका बुद्धि) को उत्पन्न किया। इस

के पश्चात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्चमहाभूतों को जो कर्म और उन के फलभोग के अधिष्ठान हैं, बनाया। तदनन्तर इन्हीं भूतों की मात्राओं से इन्द्रिय (जो दो प्रकार के हैं, एक ज्ञानेन्द्रिय दूसरे कर्मेन्द्रिय) बनाए, तत्पश्चात् इन का नायक (चलाने वाला) सङ्कल्प विकल्पात्मक मन बनाया। कार्य और कारण की उत्पत्ति के पश्चात् प्राणियों की स्थिति के लिये प्राण का आधार अन्न बनाया गया। अन्न से फिर बल की उत्पत्ति हुई, बल से तप, तप से धर्म के साधनभूत ऋगादि के मन्त्र, उन से यज्ञादि कर्म, कर्म से लोक अर्थात् उन के भोगाधिष्ठान और फिर लोकों में नाम अर्थात् संज्ञादि व्यवहार प्रवृत्त हुवे। इस प्रकार प्राण से लेकर नामपर्यन्त सोलह कला कहलाती हैं, जोकि ये सर्गारम्भ में ईश्वर से उत्पन्न होकर प्रलय में अपने नाम रूपादि को छोड़कर उसी में लीन हो जाती हैं, इस लिये उस को "षोडशी" कहते हैं॥ ४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥५॥ ६५॥

पदार्थः-(सः) दृष्टान्त-(यथा) जैसे (इमाः, नद्यः) यह नदियां (स्यन्दमानाः) चलती हुई (समुद्रायणाः) समुद्र ही है अयन [स्थान] जिन का, ऐसी (समुद्रम्) समुद्र को (प्राप्य) पाकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं, (तासाम्) उन के (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) टूट जाते हैं (समुद्रः, इति, एवम्) समुद्र है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है। (एवमेव) इसी प्रकार (अस्य, परिद्रष्टुः) इस सर्वसाक्षी पुरुष की (इमाः, षोडश, कलाः) ये सोलह कलायें (पुरुषायणाः) पुरुष ही है अयन [स्थान] जिस का ऐसी (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य) पाकर (अस्तं,

गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं (च) और (आसाम्) इन के (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) टूट जाते हैं (पुरुषः, इति, एवम्) पुरुष है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है (सः, एषः) वह यह सर्वसाक्षी पुरुष (अकलः) वास्तव में कलारहित (अमृतः) अविनाशी (भवति) है (तद्) उस के विषय में (एषः, श्लोकः) यह श्लोक है ॥ ५ ॥

भावार्थः—उक्त सोलह कलायें (जिन का वर्णन चौथे श्लोक में हो चुका है) किस प्रकार ईश्वर में अस्त होती हैं, इस को दृष्टान्तपूर्वक दिखलाते हैं। जैसे गङ्गा सिन्धु आदि नदियां समुद्र की ओर जाती हुई उस को पाकर अस्त हो जाती हैं अर्थात् अपने नाम और रूप को त्याग कर समुद्र ही कहलाने लगती हैं, फिर गङ्गादि के नाम से उन को कोई नहीं पुकारता किन्तु समुद्र के नाम से ही व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार उस सर्वसाक्षी चेतन पुरुष की यह सोलह कलायें जो सर्गारम्भ में उसी से उत्पन्न होती हैं, प्रलय में उस को पाकर अस्त हो जाती हैं अर्थात् अपने नाम रूपादि को त्याग कर उस में लीन हो जाती हैं, तब सिवाय पुरुष के और कोई निर्देश्य वस्तु ही नहीं रहती, जो व्यवहार में आसके, यद्यपि ये कलायें औपचारिक रीति पर पुरुष से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाती हैं, तथापि वह अपने वास्तविक स्वरूप से निष्कल और अपरिणामी है, इसी बात की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक भी करता है:— ॥ ५ ॥

अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परि-
व्यथा इति ॥ ६ ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(रथनाभौ) रथचक्र की नाभि में (अराइव) दण्डों के समान (यस्मिन्) जिस में (कलाः) सोलह कलायें (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तम्) उस (वेद्यम्) जानने योग्य (पुरुषम्) पुरुष को (वेद) जानो (यथा) जैसे (वः) तुम लोगों को (मृत्युः) मौत (मा, परिव्यथाः, इति) न सतावे ॥६॥

भावार्थः—जैसे रथचक्र की नाभि में सब अरे ठहरे हुवे होते हैं, इसी प्रकार जगदाधार ईश्वर में ये सोलह कलायें ठहरी हुई हैं अर्थात् वह स्वयं

निष्कल भी इन सोलह कलाओं के द्वारा इस समस्त ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और धारण कर रहा है। हे मनुष्यो ! यदि तुम मृत्यु के भयानक आक्रमण से बचना चाहते हो तो उस कलानाथ विशेष पुरुष का शास्त्रोक्त श्रवणादि साधनों के द्वारा यथार्थज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" केवल उस ही को जानकर तुम मृत्यु का उल्लङ्घन कर सकते हो और कोई मार्ग (उपाय) संसार के बन्धन से छूटने का नहीं है ॥ ६ ॥

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद ।
नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥ ६७ ॥

पदार्थः-(तान्) उन छहों शिष्यों से (ह) स्पष्ट (उवाच) पिप्पलाद ऋषि बोला कि (एतावत्, एव) इतना ही (अहम्) मैं (एतत्, परं, ब्रह्म) इस परब्रह्म को (वेद) जानता हूं (अतः) इस से (परम्) सूक्ष्म (न, अस्ति, इति) कुछ नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थः-अब छठे प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुवे पिप्पलाद ऋषि उन छहों शिष्यों को संबोधन करते हुवे कहते हैं कि मैं इतना ही जितना तुम्हारे प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है, उस परब्रह्म को जानता हूं (इस से ऋषि की निरभिमानिता और ब्रह्म की अगाधता स्पष्टतया अभिलक्षित होती है) तात्पर्य यह कि ब्रह्म तो अगाध और अनन्त है, मेरा ज्ञान उस के विषय में इतना ही है। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहां से वाणियां मन के साथ उस की थाह को न पाकर लौट जाती हैं, वह अनन्त और अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्म है, उस से सूक्ष्म या परे और कोई वस्तु नहीं है, वही सब ज्ञाताऽज्ञात वस्तुओं की पराकाष्ठा है ॥ ७ ॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥ ६८ ॥

पदार्थः-(ते) वे छहों शिष्य (तम्) उस आचार्य को (अर्चयन्तः) पूजते हुवे कहते हैं कि (त्वम्, हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) ब्रह्म-

दाता पिता है (यः) जो (अस्माकम्) हम लोगों को (अविद्यायाः) अविद्या के (परं, पारम्) परली पार (तारयसि, इति) तराता है (परमऋषिभ्यः) ब्रह्मविद्या के सम्प्रदायप्रवर्त्तक ऋषियों के लिये (नमः) नमस्कार हैं। द्विर्वचन वीप्सा और ग्रन्थसमाप्तिसूचक है ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब वे छहों शिष्य कृतज्ञतापूर्वक गुरु का पूजन करते हुवे कहते हैं कि हे ऋषिप्रवर! आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं "उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता"। इस मनु के वचनानुसार ब्रह्मदाता पिता उत्पादक पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि उत्पादक पिता से तो इस विनश्वर शरीर की उत्पत्ति होती है, परन्तु ब्रह्मदाता पिता उस आत्मा का साक्षात्कार कराता है, जो न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। इस लिये उत्पादक, उपनेता, अन्नदाता, भयत्राता और विद्या (ब्रह्म) दाता इन पांचों प्रकार के पिताओं में ब्रह्मदाता पिता सब से बढ़कर है सो आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं अर्थात् आप ने कृपा करके हम को इस अविद्या के समुद्र से (कि जिस की मिथ्याज्ञान की तरङ्गों में हम बहे जा रहे थे), निकाला है। हम आप के उपकारभार से इस जन्म में तो क्या, आकल्प भी मुक्त नहीं हो सकते। सिवाय नमस्कार के उपहार के और हमारे पास क्या है, जो हम आप के चरणों में भेंट करें? इस लिये हम अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से आप जैसे ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्त्तक महर्षियों के चरणों में पुनः २ नमस्कार करते हैं॥८॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥ ६ ॥

समाप्ता चेयमुपनिषद् ॥

भूमिका

यह मुण्डकोपनिषद् भी अथर्ववेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इस में शौनक और अङ्गिरा ऋषि का संवाद है। इस उपनिषद् के ३ मुण्डक और प्रत्येक मुण्डक के दो २ खण्ड तीनों के मिलाकर ६ खण्ड हैं। मुण्डकों में विभक्त होने से इस उपनिषद् का नाम ही मुण्डक पड़गया। पहिले मुण्डक में परा और अपरा दो विद्याओं के विभागपूर्वक परा की श्रेष्ठता और पूर्णता दिखलाई गई है। दूसरे मुण्डक में आत्मा से जगत् की उत्पत्ति और उपासना द्वारा आत्मोपलब्धि वर्णन की गई है। तीसरे मुण्डक में आत्मतत्त्व का विवेचन और उस की प्राप्ति के साधनों का निरूपण करते हुवे अङ्गिरा ऋषि ने शौनक के इस प्रश्न का—"कस्मिन्नु भगवो ! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" उत्तर समाप्त किया है। वस्तुतः यह सारी उपनिषद् ब्रह्मविद्या के उच्चतम उपदेश से परिपूर्ण है। आशा है कि ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुजन इस के अवलोकन से आत्मप्रसाद का लाभ अवगत करेंगे॥

(अनुवादक)

ओ३म्

—*(अथ)*—

अथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्

तत्र प्रथममुण्डके प्रथम: खण्ड:

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता
भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-
प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥ १ ॥

पदार्थः-(देवानां-प्रथमः) देवों में पहिला (विश्वस्य कर्त्ता) सृष्टि का उत्पादक (भुवनस्य गोप्ता) जगत् का रक्षक (ब्रह्मा) धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से बढ़ा हुआ (सम्बभूव) प्रकट हुवा (सः) उस ने (ज्येष्ठ-पुत्राय-अथर्वाय) अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा के लिये (सर्वविद्याप्रतिष्ठां-ब्रह्म-विद्याम्) सब विद्याओं की आधारभूत ब्रह्मविद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा जब सृष्टि बनाना चाहता है तो सब से पहिले ब्रह्मा के रूप में प्रकट होता है । यह ब्रह्मा क्या है ? कोई इस को आदि पुरुष जो सब से प्रथम उत्पन्न किया गया, मानते हैं और किन्हीं का ऐसा मत है कि यह कोई शरीर वाली व्यक्ति नहीं है, किन्तु औपचारिक रीति पर भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति के लिये ईश्वर को एक विग्रहवती व्यक्ति कल्पना कर लिया गया है । जो कि इस श्लोक में ब्रह्मा को सृष्टि का उत्पादक एवं रक्षक आदि विशेषणों से विशिष्ट माना गया है, इस से पिछले मन्तव्य की पुष्टि होती है । तीसरा विशेषण ब्रह्मा का "देवानां प्रथमः" देवताओं में पहला या फैला हुवा आया है । जो कि परमात्मा अग्नि, वायु आदि सब देवों में मुख्य और व्यापक होने से उन में फैला हुवा भी है, अतएव यह विशेषण भी एक शरीरधारी की अपेक्षा परमेश्वर में अधिक सङ्गत होता है । इस लिये परमेश्वर की उस अवस्था का नाम जब कि वह सृष्टि को बनाना चाहता है, वैदिक परिभाषा में ब्रह्मा है । "ब्रह्मा" शब्द

का धात्वर्थ बढ़ने की इच्छा रखने वाला है । परमात्मा जब बढ़ना चाहता है (सृष्टि को उत्पन्न करना ही उस का बढ़ना है) तब वेद उस को ब्रह्मा के नाम से निर्देश करते हैं । "ब्रह्मा" शब्द का पुल्लिङ्ग होना भी इस बात का प्रमाण है । जिस प्रकार कोई नपुंसक स्त्रीप्रसङ्ग नहीं कर सकता, इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग "ब्रह्म" शब्द जब तक कि वह पुल्लिङ्ग "ब्रह्मा" शब्द की अवस्था और योग्यता प्राप्त न करे, प्रकृतिरूपिणी स्त्री से उस का संसर्ग नहीं हो सकता । सुतराम् वह शुद्ध और निष्कल ब्रह्म (जिस का उत्पत्ति और नाश होने वाली सृष्टि से कुछ भी साधर्म्य नहीं है) जब सृष्टि बनाना चाहता है, तो इस के लिये उसे सृष्टि से साधर्म्य और विशेष सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्मा की औपचारिक व्यक्ति और लाक्षणिक पदवी धारण करनी पड़ती है । दूसरी बात यह है कि उक्त श्लोक में "ब्रह्मा" शब्द कर्तृकारक में आया है, न कि कर्मकारक में अर्थात् ब्रह्मा स्वयं प्रकट हुवा न कि उस को उत्पन्न या प्रकट किया गया । इन सब हेतुओं से यह सिद्ध है कि इस श्लोक में ब्रह्मा से तात्पर्य सृष्टिकर्त्ता परमात्मा से है, न कि किसी व्यक्ति विशेष से ॥

अब यह प्रश्न किया जासकता है कि यदि ब्रह्मा से तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष से नहीं है, तो फिर श्लोक के अन्तिमपाद में जो यह कहागया है कि उस ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा नाम वाले के लिये ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, इस की क्या सङ्गति होगी । यह कोई कठिन प्रश्न नहीं है, हम सब परमात्मा के पुत्र हैं, इस लिये कि उसने हम सब को उत्पन्न किया है । जो कि यह सर्गारम्भ का वर्णन है, उस समय जो ऋषि लोग उत्पन्न हुये वे सब परमात्मा के ज्येष्ठ पुत्र थे, उन्हीं में से एक अथर्वा ऋषि भी हुवे हैं, जिन को परमात्मा ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवा-
चाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सत्य-
वाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥२॥

पदार्थः—(अथर्वणे) अथर्वा के लिये (याम्) जिस ब्रह्मविद्या का (ब्रह्मा-प्रवदेत) ब्रह्मा ने उपदेश किया (पुरा) पहिले (अथर्वा) अथर्वा

ने (अङ्गिरे) अङ्गी नाम ऋषि के लिये (ताम्–ब्रह्मविद्याम्) उस ब्रह्मविद्या को (उवाच) कहा । (सः) उस अङ्गी ने (भारद्वाजाय सत्यवाहाय) भरद्वाज गोत्रोत्पन्न सत्यवाह ऋषि के लिये (प्राह) उस का उपदेश किया (भारद्वाजः) सत्यवाह ने (अङ्गिरसे) अपने शिष्य अङ्गिरा ऋषि के लिये (परावराम्) पर और अवर सब विषयों को जनाने वाली विद्या का (प्राह) उपदेश किया ॥

भावार्थः—अथर्वा ने जिस ब्रह्मविद्या को अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था उसी को पहिले अङ्गी नाम ऋषि के प्रति वर्णन किया । अङ्गी ने पुनः सत्यवाह के प्रति उसका उपदेश किया, सत्यवाह ने पुनः उस गुरुपरम्पराप्राप्त समस्त विद्याओं की जननी ब्रह्मविद्या का स्वशिष्य अङ्गिरा के प्रति उपदेश किया । इस श्लोक में परम्पराप्राप्त ब्रह्मविद्या का वह अनुक्रम वर्णन किया गया है कि जिस के द्वारा यह संसार में प्रतिष्ठित और प्रचरित हुई । इस श्लोक में भी "पुरा" शब्द उस अभिप्राय की पुष्टि करता है कि जो हमने पहिले श्लोक में सङ्कलित किया है, अर्थात् अथर्वा ने सब से पहिले उस ब्रह्मविद्या का उपदेश कि जिस को आत्मिक अनुभव द्वारा साक्षात् ईश्वर से प्राप्त किया था, अङ्गी ऋषि को किया । निदान उस ब्रह्मविद्या को स्वाध्याय और प्रवचन में लानेवाला अथर्वा था फिर जब वह स्वाध्याय में परिणत होगई, तब मनुष्यों में उस का प्रचार बढ़ता गया ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥ ३ ॥

पदार्थः-(ह, वै) प्रसिद्ध (महाशालः) बड़ी शाला वाले अर्थात् परम गृहस्थ (शौनकः) शुनक के पुत्र शौनक नाम ऋषि ने (विधिवत्) शास्त्र की आज्ञानुसार (अङ्गिरसम्) अङ्गिरा नाम ऋषि को (उपसन्नः) गुरुभाव से प्राप्त होकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवः) हे भगवन् ! (नु) [प्रश्नवाचक अव्यय है] (कस्मिन्–विज्ञाते) किस वस्तु के जानने पर (सर्वम्–इदम्) यह सब कुछ जानने योग्य (विज्ञातम्-भवति–इति) विशेषरूप से जान लिया जाता है ? ॥ ३ ॥

भावार्थः- अब उस अङ्गिरा ऋषि के पास ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से गृहस्थधर्म को पालन करने वाला शौनक नाम ऋषि शास्त्र की इस आज्ञानुसार "स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" समित्पाणि होकर शिष्यभाव से प्राप्त हुआ और उस ने नम्रतापूर्वक बद्धाञ्जलि होकर यह प्रश्न किया कि हे भगवन् ! ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिस के ज्ञान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषयों की परिसमाप्ति हो जाती है अर्थात् जैसे कारण का ज्ञान होने पर कार्य और हेतु का ज्ञान होने पर हेतुमान् स्वयमेव जान लिया जाता है ऐसा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक आदि कारण कि जिस का बोध होने पर जगत् के सारे कार्य कारण और उन के अवान्तर भेद भी स्वयमेव विदित हो जाते हैं, क्या है ? ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥४॥

पदार्थः-(तस्मै) उस शौनक के लिये (सः) वह अङ्गिरा (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (द्वे-विद्ये) दो विद्यायें (वेदितव्ये-इति) जाननी चाहियें (ह-स्म) निश्चय (यद् ब्रह्मविदः-वदन्ति) जैसा कि ब्रह्मविद् कहते हैं, वे दो विद्यायें कौनसी हैं (परा-च-एव-अपरा-च) परा और अपरा ॥ ४ ॥

भावार्थः-उस प्रश्नकर्त्ता शौनक के प्रति अङ्गिरा कहता है कि जो पुरुष ब्रह्म की जिज्ञासा रखता है उस को दो विद्यायें जाननी चाहियें, एक परा और दूसरी अपरा। ऐसा ही ब्रह्मविद् आचार्य कहते हैं। यहां पर यह शङ्का होती है कि प्रश्न तो था यह कि किस वस्तु के जानने पर सब कुछ जाना जाता है और उसका उत्तर यह दिया गया कि दो विद्यायें जाननी चाहियें, परा और अपरा। यह तो वही बात हुई "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" आमों को पूछा और कचनारों को कहने लगा। इस शङ्का को यहां पर अवकाश इस लिये न होना चाहिये कि विना क्रम (सिलसिले) के किसी वस्तु का भी परिज्ञान ठीक २ नहीं हो सकता। उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पहिले आचार्य इस श्लोक में उस वस्तु के जानने का क्रम दिखलाते हैं अर्थात् पहिले अपरा विद्या को जानकर जब परा विद्या में प्रवेश करता है तब उस वस्तु के जानने का अधिकारी होता है ॥ ४ ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

पदार्थः-(तत्र) उन दोनों में (ऋग्वेदः) ऋग्वेद (यजुर्वेदः) यजुर्वेद (सामवेदः) सामवेद (अथर्ववेदः) अथर्ववेद (शिक्षा) जिस में वर्ण और स्वरादि के उच्चारण की विधि बतलाई गई हो (कल्पः) जो मन्त्रविनियोग पूर्वक कर्मकाण्ड का विधान करता है (व्याकरणम्) शब्दशास्त्र (निरुक्तम्) जिस में वैदिक पदों का निर्वचन किया गया है (छन्दः) पिङ्गलादि छन्दःशास्त्र (ज्योतिषम्) ग्रह और नक्षत्र आदि की विद्या (इति) ये (अपरा) अपरा विद्या हैं। (अथ) इस के उपरान्त (परा) परा विद्या यह है (यया) जिस से (तत्-अक्षरम्) वह अविनाशी ब्रह्म (अधिगम्यते) जाना जाता है ॥५॥

भावार्थः-अब प्रसङ्गप्राप्त अपरा और परा विद्या का निरूपण करते हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छहों वेदों के अङ्ग अपरा विद्या कहलाते हैं और परा विद्या यह है कि जिस से वह वस्तु जानी जाती है कि जिस के जानने पर सगस्त ज्ञातव्य अर्थों की समाप्ति हो जाती है। आचार्य का यह सङ्केत उपनिषद् विद्या की ओर है कि जो प्रधानभाव से केवल ब्रह्मविद्या का ही प्रतिपादन करती है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि यदि वह परा विद्या चारों वेदों से पृथक् है तो उस का क्योंकर मान्य हो सकता है? क्योंकि कोई भी शास्त्र वेदवाह्य के मानने की आज्ञा नहीं देता। इस का उत्तर यह है कि यहां प्रधानत्व की विवक्षा से ऋग्वेदादि को अपरा और उपनिषद् को परा विद्या कहा गया है इन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ऋग्वेदादि से पराविद्या पृथक् है। यदि ऐसा होता तो स्वयं उपनिषद् "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" ऐसा क्यों कहती? सुतराम् वेदों में सब विद्या का वर्णन होने से उन को अपरा कहा गया और उपनिषदों में केवल ब्रह्मविद्या का ही निरूपण होने से उन को परा माना गया है, वस्तुतः परा का मूल भी वेद ही हैं ॥५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परि-पश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥ ६ ॥

पदार्थः-(यत्) जो (अद्रेश्यम्) ५ ज्ञानेन्द्रियों का अविषय (अग्राह्यम्) जो पांचो कर्मेन्द्रियों से ग्रहण न किया जा सके (अगोत्रम्) जिस का कोई मूल [कारण] न हो (अवर्णम्) शुक्ल कृष्ण आदि वर्णों से रहित (अचक्षुःश्रोत्रम्) दर्शन और श्रवण के हेतु आंख और कान से रहित (अपाणिपादम्) ग्रहण और गमन क्रिया के साधक हाथ और पैर से वर्जित (सर्वगतम्) आकाशवत् सर्वत्र व्यापक (सुसूक्ष्मम्) अत्यन्त सूक्ष्म है (तद्) उस (अव्ययम्) वृद्धि और क्षय से रहित (नित्यम्) अविनाशी (विभुम्) देश काल और वस्तु से अनवच्छिन्न (यद्-भूतयोनिम्) जिस चराचर सृष्टि के कारण को (धीराः) विवेकिजन (परि-पश्यन्ति) सर्वत्र देखते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः-जो परा विद्या से जाना जाता है वह अक्षर (अविनाशि) वस्तु क्या है ? इस का उत्तर इस श्लोक में देते हैं। 'अदृश्य' शब्द से केवल चक्षुर्ग्राह्य विषय का ही निषेध नहीं होता किन्तु ज्ञानेन्द्रिय मात्र का जो विषय न हो उस को अदृश्य कहते हैं, श्रुति में 'अद्रेश्य' प्रयोग आर्ष है। इसी प्रकार 'अग्राह्य' शब्द से केवल वही पदार्थ इष्ट नहीं है जो हाथों से ग्रहण न हो सके किन्तु पांचो कर्मेन्द्रियों से जो ग्रहण न किया जा सके उस को अग्राह्य कहते हैं। 'गोत्र' शब्द मूल या आधार का वाचक है इसी लिये मूल पुरुष के नाम से गोत्र (वंश) पुकारा जाता है, जिस का कोई आदि-कारण न हो किन्तु वही सब का आदिपुरुष हो उसे 'अगोत्र' कहते हैं। शुक्ल कृष्ण, स्थूल कृश, आदि भौतिक गुणों को वर्ण कहते हैं, उन से जो रहित है, वह 'अवर्ण' कहलाता है। चक्षु और श्रोत्र यहां उपलक्षण हैं ज्ञानेन्द्रियों के उन से जो रहित है अर्थात् "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" जो विना आंख के देखता और विना कान के सुनता है। इसी प्रकार पाणि और पाद उपलक्षण हैं कर्मेन्द्रियों के, उन से जो वर्जित है अर्थात् "अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता" विना हाथ के सब को ग्रहण करता और विना पैर के सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अनुत्पन्न होने से नित्य है। देश काल और वस्तु का व्यवधान न होने से विभु है, चराचर पदार्थों में ओत प्रोत होने से सर्व-

गत है, अच्छेद्य और अभेद्य होने से सूक्ष्म है और अभौतिक होने से अव्यय है। ऐसा जो चराचर सृष्टि का एक मात्र आदिकारण है, वह पुरुष अक्षर वाच्य है, उस को धीरपुरुष ज्ञानदृष्टि से सर्वत्र देखते हैं ॥ ६ ॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥ ७ ॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (ऊर्णनाभिः) मकड़ी (सृजते) जाला पूरती है (च) और (गृह्णते) समेट लेती है। (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) अन्नादि ओषधियें (सम्भवन्ति) उत्पन्न होती हैं। (यथा) जैसे (सतः-पुरुषात्) जीव के विद्यमान होने से (केशलोमानि) केश लोम आदि उत्पन्न होते हैं (तथा) वैसे ही (अक्षरात्) उस अविनाशी पुरुषसे (इह) यहां पर (विश्वम्) संसार (सम्भवति) उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः-इस से पहिले श्लोक में उस अक्षर को भूतयोनि अर्थात् चराचर जगत् का कारण कहा गया है, यह श्रुति उस का कारण होना दिखलाती है। जैसे मकड़ी अपने शरीररूप उपादान से जाला पूरती है और फिर उसे अपने शरीर में ही समेट लेती है और जैसे पृथिवी में अपने बीजरूप उपादान से अन्नादि उत्पन्न होते हैं और फिर विकल होकर उसी में लीन हो जाते हैं। एवं जैसे जीव की विद्यमानता में शरीररूप उपादान से नख लोम आदि उस के कार्य उत्पन्न होकर पुनः शरीर में ही परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार उस अविनाशी पुरुष से प्रकृतिरूप उपादान के द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है और फिर प्रलय में कारणरूप से उसी में लीन हो जाता है ॥

अद्वैतवादी इस श्रुति में परमात्मा को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि तीनों दृष्टान्तों में यद्यपि उपादान अनुक्त है तथापि निमित्त के सहचार से उस का अध्याहार हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य को कहा जावे कि यह अमुक पुरुष का पुत्र है तो इस से उस की माता का खण्डन नहीं होता, यदि कहा जावेकि प्रकृति का वर्णन इस में क्यों नहीं किया गया तो इस का उत्तर यह है कि यहां पुरुष का प्रकरण पहले से चला आता है, अतः उस के निर्देश को कोई

आवश्यकता न थी। इस के अतिरिक्त कार्य की सिद्धि के लिये केवल कर्ता का निर्देश पर्याप्त है, परन्तु इस से उस के कारण और कारण का खण्डन नहीं होता। श्लोक में जो तीन दृष्टान्त दिये गये हैं उन पर भी यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जावे तो उपादान कारण उन के अभ्यन्तर ही विद्यमान है। जैसे शरीर के अभाव में मकड़ी जाला नहीं बना सकती और जैसे बीज के अभाव में पृथिवी अन्नादि को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी प्रकार जैसे शरीर के अभाव में जीवात्मा से नख लोम नहीं उपज सकते, वैसे ही प्रकृति के न होने से जगत् की उत्पत्ति भी असम्भव हो जाती है। हां, यह ठीक है कि प्रकृति जड़ होने से स्वयं जगत् के बनाने में स्वतन्त्र नहीं, किन्तु पुरुष के आधीन है। स्वतन्त्र होने के कारण ही इस श्लोक में पुरुष से जगत् की उत्पत्ति कही गई है॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

पदार्थः—(तपसा) ज्ञानरूप से (ब्रह्म) वह अक्षर (चीयते) बढ़ता है (ततः) उस बढ़े हुवे ब्रह्म से (अन्नम्) प्राण का आधार अन्न (अभिजायते) उत्पन्न होता है (अन्नात्) अन्न से (प्राणः) प्राण, उस से (मनः) मन, मन से (सत्यम्) आकाशादि पञ्चभूत, उन से (लोकाः) भू आदि सप्त लोक उन में कर्म (च) और (कर्मसु) कर्मों के निमित्त होने पर (अमृतम्) उन का फल क्रमशः उत्पन्न होते हैं॥ ८॥

भावार्थः—अब सृष्टि की उत्पत्ति और उस का क्रम वर्णन करते हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है:—"प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत" जब ब्रह्म को सृष्टि बनाने की इच्छा हुई तो पहिले उस ने तप किया। उस का तप क्या है? "यस्य ज्ञानमयं तपः" क्रिया को ज्ञान से संयुक्त करना ही उस का तप कहलाता है। उस तप से ब्रह्म बढ़ता है अर्थात् ब्रह्म की ज्ञानशक्ति प्रकृति की क्रियाशक्ति से मिलकर इस कारणरूप सूक्ष्म जगत् को कार्यरूप स्थूल जगत् बनाती है। यहां ज्ञानशक्ति के प्रधान होने से ब्रह्म का बढ़ना कहा गया है, अन्यथा ब्रह्म के एकरस होने से उस में उपचयापचय (बढ़ना घटना) नहीं बन सकता। उस सृष्टि के ज्ञानरूप तप में प्रवृत्त हुवे

अन्न से प्रथम प्राणों का आधार अन्न उत्पन्न होता है "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" अन्न ही प्राणियों के जीवन का हेतु है, इस लिये प्राण से पूर्व उस की उत्पत्ति कही गई है। अन्न के उत्पन्न होने के अनन्तर उस के आधेय प्राण की उत्पत्ति हुई। उस से फिर सङ्कल्प विकल्पात्मक मन उत्पन्न हुआ, मन से पञ्च सूक्ष्मभूत, पञ्चभूतों से भू आदि सप्तलोक, लोकों में मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से कर्म, और कर्मों के निमित्त होने पर उन का फल। जो कि कर्म अनादि हैं उन का कभी विनाश नहीं होता, इस लिये उन के फल को श्रुति में अमृत कहा गया है॥ ८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते॥ ९॥ ९॥

पदार्थः–(यः) जो (सर्वज्ञः) सामान्यरूप से सब को जानने वाला (सर्ववित्) विशेषरूप से सब का ज्ञाता (यस्य) जिस का (ज्ञानमयम्) अनायास सिद्ध ज्ञानरूप ही (तपः) तप है (तस्मात्) उसी सर्वज्ञ से (एतत्) यह (ब्रह्म) वृद्धि को प्राप्त हुआ जगत् (नाम) मनुष्य पशु और वृक्षादि संज्ञा (रूपम्) शुक्ल कृष्ण आदि वर्ण (च) और (अन्नम्) व्रीहि यवादि अन्न (जायते) उत्पन्न होता है॥ ९॥

भावार्थः–इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि की गई है। समष्टिरूप से कारणरूप जगत् का ज्ञाता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है और व्यष्टिरूप से कार्य जगत् का अवगन्ता होने से वही सर्ववित् है अर्थात् जब यह जगत् अपनी कारणावस्था में होता है, तब वह समष्टिरूप से इस को जानता है और जब कार्यावस्था में विभक्त होता है तब व्यष्टिरूप से पृथक् २ प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान रखता है और जिस का स्वाभाविक ज्ञानमय ही तप है, जिस के द्वारा यह जगत् सूक्ष्म से स्थूलरूप में परिणत होता है। उस ही अविनाशी पुरुष से यह बढ़ने वाला जगत् जिस के तीन प्रधान अङ्ग हैं, उत्पन्न होता है, वे तीन अङ्ग ये हैं। १ नाम=मनुष्य, पशु इत्यादि संज्ञा जिन से समस्त पदार्थों का निर्देश और व्यवहार किया जाता है। २रूप=श्वेत, कृष्ण, लघु, गुरु, मधु, तिक्त इत्यादि गुण जिन से उन पदार्थों के साधर्म्य, वैधर्म्य और योग्यता जानी जाती है। ३ अन्न=भक्ष्य जो खाया जाता है और जिस से शरीरादि का पोषण होता है॥ ९॥

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः॥ १॥

अथ प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः

—०:*:०—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यं-स्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः स्वकृतस्य लोके ॥ १ ॥ ॥ १० ॥

पदार्थः—(तद्, एतत, सत्यम्) वह यह सत्य है (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (यानि, कर्माणि) जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को (कवयः) विद्वान् लोग (अपश्यन्) देखते थे (तानि) वे कर्म (त्रेतायाम्) तीनों वेदों में (बहुधा) अनेक प्रकार से (सन्ततानि) फैले हुवे हैं । (तानि) उन विहित कर्मों को (सत्यकामाः) सत्य सङ्कल्प होकर (नियतम्) नित्य (आचरथ) आचरण करो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (लोके) संसार में (स्वकृतस्य) अपने किये हुवे कर्म का (पन्थाः) मार्ग है ॥ १ ॥

भावार्थः—अङ्ग सहित चारों वेदों का अपरा विद्या होना प्रथम खण्ड में कहा गया और उस के फल रूप अक्षर पुरुष की प्राप्ति जिस विद्या के द्वारा होती है उस पराविद्या का निरूपण भी यथावसर किया गया । अब इस द्वितीय खण्ड में प्रथम मूलरूप होने से अपराविद्या का निरूपण किया जाता है, क्योंकि विना अपराविद्या को जाने कोई मनुष्य पराविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता और न विना उस की परीक्षा किये कोई मनुष्य उस का त्याग करने में समर्थ हो सकता है अतएव प्रथम अपराविद्या की आलोचना की जाती है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" इत्यादि वेद के मन्त्रों से जिन अग्निहोत्रादि विहित कर्मों का विद्वान् लोगों ने प्रतिपादन किया है वे तीन वेदों में हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र भेदों से यद्वा आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि भेदों से अथवा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में कर्त्तव्य होने से अनेक प्रकार से शाखा प्रशाखा रूप से फैले हुवे हैं । साधक पुरुष को चाहिये कि सत्यसङ्कल्प हो कर श्रद्धा और विश्वास के साथ निष्काम भाव से नित्य उन का आचरण

करे क्योंकि यही इस संसार में अपने किये हुये शुभ कर्मों के फलरूप स्वर्ग की प्राप्ति का एक साधन है अर्थात् बिना विहित कर्मों का आचरण किये कोई मनुष्य उन के फल रूप स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता ॥ १ ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने । तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥११॥

पदार्थः—(हि) निःसन्देह (यदा) जब (हव्यवाहने, समिद्धे) समिधाओं से अग्नि के प्रदीप्त होने पर (अर्चिः) अग्नि की ज्वाला (लेलायते) लपटें लेती है (तदा) तब (आज्यभागावन्तरेण) कुण्ड के मध्यभाग में दो आहुतियों के क्रम से (आहुतीः) आहुतियों को (प्रतिपादयेत्) देवै (श्रद्धया) श्रद्धा से (हुतम्) होम किया हुवा फलदायक होता है ॥ २ ॥

भावार्थः—उन वेदविहित कर्मों में जो अपराविद्या का विषय हैं अग्निहोत्र सब में प्रधान है, इस लिये प्रथम उस का ही निरूपण किया जाता है। अग्निहोत्र के समय अग्न्याधान करने के उपरान्त जब अग्नि समिधाओं में प्रदीप्त हो चुके तब यज्ञकुण्ड के मध्यभाग में दो आघारावाज्यभागाहुति देवत इस से देनी चाहियें अर्थात् प्रातःकाल में * "सूर्याय स्वाहा" "प्रजापतये स्वाहा" इन दो मन्त्रों से और सायङ्काल में " अग्नये स्वाहा " " प्रजापतये स्वाहा" इन दो मन्त्रों से आहुति देवे। दो के लिये " आहुतीः " यह बहुवचन का प्रयोग इस लिये किया है कि दोनों काल की दो २ मिलकर चार और अनेक दिन की मिलकर बहुत सी हो जाती हैं। कैसा ही शुभकर्म क्यों न हो, जो बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह फलदायक नहीं होता, अत एव श्रुति श्रद्धापूर्वक होम करने की आज्ञा देती है ॥ २ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितञ्च । अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥ (१२)

पदार्थः—(यस्य) जिस का (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (अदर्शम्) दर्शेष्टिवर्जित है (अपौर्णमासम्) पौर्णमासेष्टि वर्जित है (अचातुर्मास्यम्) चातुर्मास्य

* आनन्दगिरि टीका से उद्धृत।

सम्बन्धी जो कर्म हैं, उन से शून्य है (अनाग्रयणम्) आग्रयण [शरदादि ऋतु] में जो कर्म किये जाते हैं, उन से वर्जित है (अतिथिवर्जितम्) अतिथि-पूजन से वर्जित है (अहुतम्) समय पर होम से रहित है (अवैश्वदेवम्) वैश्वदेव कर्म से रहित (अविधिना हुतम्) विधिरहित होम किया हुवा है (तस्य) उस के (आसप्तमान्, लोकान्) भू आदि सात लोकों को (हिनस्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-कैसा ही उत्तम पदार्थ क्यों न हो, यदि उस का अन्यथा प्रयोग किया जायगा तो वह इष्ट के स्थान में अनिष्टरूप फल को उत्पन्न करेगा। विधिपूर्वक सेवन किया हुआ अन्न आरोग्य और बल का बढ़ाने वाला है, परन्तु वही अन्न यदि मर्यादा को उल्लङ्घन करके सेवन किया जाय तो बल और आरोग्य का नाशक हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आचरण किया हुवा अग्निहोत्र स्वर्ग का देने वाला है, परन्तु वही अग्निहोत्र यदि शास्त्र की मर्यादा को उल्लङ्घन करके किया जाय तो नरक का साधन हो जाता है। इसी अर्थ को प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है कि विना पक्षेष्टि और चातुर्मास्येष्टि के विना अतिथिपूजन और वैश्वदेवकर्म के विना गृह्योक्त विधि और समय का पालन किये जो अग्निहोत्र केवल दिखलाने के लिये किया जाता है, वह कर्त्ता के भू आदि सप्त लोकों का नाश करता है अर्थात् उन में उस की उच्चगति को रोक देता है, इस लिये स्वर्ग की कामना रखने वाले पुरुषों को सदा श्रद्धा और विधिपूर्वक ही अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च
सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥ (१३)

पदार्थः-(काली) श्यामवर्ण वाली (कराली) तीक्ष्ण (मनोजवा) मन का सा वेग रखने वाली (सुलोहिता) रक्तवर्ण वाली (या) जो (सुधूम्रवर्णा) धूम्रवर्ण वाली (स्फुलिङ्गिनी) चिनगारियों वाली (विश्वरूपी) एतन्नामक (देवी) प्रकाशमान (लेलायमाना) प्रदीप्त (सप्त जिह्वाः) अग्नि की सात जिह्वा हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः-काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरूपी ये सात अग्नि की जिह्वा हैं। जिह्वा का काम बोलना और स्वादु लेना है। जिस प्रकार हम अपनी जिह्वा से बोलते और स्वादु लेते हैं उसी प्रकार अग्नि भी अपनी इन सातों जिह्वाओं से चटपट शब्द करता और द्रव्य को भक्षण करता है। हमारे शाक्तिक भाइयों ने तो इस जिह्वा की मूर्त्ति तक बना डाली अर्थात् अङ्ग से अङ्गी बना दिया क्योंकि काली साक्षात् एक देवी मानी जाती है और उस के लिये सैकड़ों निरपराध पशुओं की बलि दी जाती है ॥ ४ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥ १४ ॥

पदार्थः-(हि) निश्चय (एतेषु, भ्राजमानेषु) इन प्रकाशमान अग्नि-जिह्वा के भेदों में (यथाकालम्) यथा समय (यः, चरते) जो अग्निहोत्र करता है। (तम्) उस यजमान को (एताः) ये (आहुतयः) आहुतियें (आददायन्) ग्रहण करती हुईं (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणें होकर (नयन्ति) पहुंचाती हैं (यत्र) जहां पर (देवानां, पतिः) देवों का स्वामी (एकः, अधिवासः) एक अधिपति होकर रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थः-पूर्वोक्त उन प्रकाशमान अग्नि की सात जिह्वाओं में जो विधि-पूर्वक आहुतियें देता है वे आहुतियां सूर्य की किरणों में व्याप्त होकर अन्न, जल और वायु आदि पदार्थों को शुद्ध और पुष्ट करती हैं और यजमान को सूर्यलोक में (जहां देवों का अधिपति सूर्य अपनी ज्योति से प्रकाशमान है) पहुंचाती हैं। इस श्रुति ने और भी स्पष्ट कर दिया कि उक्त जिह्वायें अग्निदेव की हैं और उन का काम आहुतियों को भक्षण करना है। न कि उन का सम्बन्ध किसी देहधारी से है या उन की कोई व्यक्ति या मूर्त्ति है ॥ ५ ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥१५॥

पदार्थः-(सुवर्च्चसः) प्रकाशयुक्त (प्रियां, वाचम्, अभिवदन्त्यः) प्रिय-वाणी को बोलती हुईं (अर्चयन्त्यः) सत्कार करती हुईं (आहुतयः) वे आहुतियां (एहि, एहि, इति) आओ, आओ ऐसा कहती हुईं (सूर्यस्य, रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ (तं, यजमानम्) उस यजमान को (वहन्ति) धारण करती हैं (एषः) यह (वः) तुम्हारा (पुण्यः) पवित्र (सुकृतः) शुभ कर्म का फलरूप (ब्रह्मलोकः) स्वर्गलोक है ॥ ६ ॥

भावार्थः-वे आहुतियां सूर्य की किरणों में मिलकर यजमान को यज्ञ का फल पहुंचाती हैं और उस का स्वागत और सत्कार करती हुईं प्रियवाणी से उसे बुलाती हैं कि आओ २ यह तुम्हारे पुण्य का फल है। हमारे पाठक इस श्लोक का आशय पढ़ कर शङ्कित हुवे होंगे कि विना शरीर और वाणी के आहुतियां किस प्रकार सत्कार और प्रियभाषण आदि क्रिया कर सकीं हैं? वास्तव में यह एक प्रकार की कथनशैली है जिस में कर्म का कर्तृत्वेन व्यपदेश किया जाता है, प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी ऐसा ही प्रसङ्ग मिलता है। यथाः- "ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। तं राजन्पारयामसि यस्मै कृणोति ब्राह्मणः" ओषधियां अपने राजा सोम से बोलीं कि हे राजन्! हम उसको पार लगा देती हैं, जिस के लिये ब्राह्मण (उत्तम वैद्य) हमें प्रयुक्त करता है। वास्तव में इस का तात्पर्य यह है कि ओषधियों का सदुपयोग वैद्य ही कर सकता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार निरुक्त में भी आया है "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती यथा स्याम्", विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहने लगी कि मैं तेरा कोष हूं मेरी रक्षा कर अर्थात् निन्दक, कुटिल और अजि-तेन्द्रिय को मुझे मत दे जिस से कि मेरा प्रभाव बना रहे। इस का तात्पर्य यह है कि अनधिकारी के पास गई हुई विद्या लाभ के स्थान में हानि पहुंचाती है। जिस प्रकार उक्त दोनों दृष्टान्तों में ओषधि और विद्या का संवाद औपचारिक है इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी आहुतियों का बोलना और सत्कार करना यह सब आलङ्कारिक है और केवल इस बात के जत-लाने के लिये है कि शास्त्र की विधिपूर्वक जो अग्नि में आहुति देता है वह इस अग्निहोत्ररूप शुभकर्म के प्रताप से इस के फल रूप स्वर्ग को प्राप्त होता

है। अहो वह अनेक प्रकार की प्रियवाणी और सत्कार आदि से पूजित होकर नाना प्रकार के सुखों को भोगता है ॥ ६ ॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त-
मवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति
मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥१६॥

पदार्थः-(हि) निश्चय (एते) ये (यज्ञरूपाः) अग्निहोत्रादि यज्ञ (येषु) जिन में (अष्टादशोक्तम्, अवरं, कर्म) सोलह ऋत्विज्, यजमान और उस की पत्नी, इन अठारह व्यक्तियों से किया हुआ निकृष्ट कर्मकाण्ड, कहा है (अदृढाः) अस्थिर (प्लवाः) नाशवान् हैं। (ये, मूढाः) जो विवेकरहित पुरुष (एतत्, श्रेयः) यह श्रेय अर्थात् मोक्ष का साधन है ऐसा मान कर (अभिनन्दन्ति) सन्तुष्ट होते हैं (ते) वे (जरामृत्युम्) जरामृत्यु वाले संसार को (पुनः, एव) फिर भी (अपि, यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥७॥

भावार्थः-कर्मकाण्डरूप अपरा विद्या का प्रतिपादन करके अब ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा उस की अवरता दिखलाते हैं। ये अग्निहोत्रादि यज्ञ जो सोलह ऋत्विज्, यजमान और उस की पत्नी इन अठारह व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं, अस्थिर होने से विनाशी हैं जब कर्म ही अनित्य है तो उस का फल नित्य क्योंकर हो सकता है? अतएव ये अध्यात्मज्ञान की अपेक्षा अवर अर्थात् नीचकोटि में माने गये हैं। जो लोग अपनी अविद्या के कारण इन्हीं को मोक्ष का अनन्यसाधन मान बैठते हैं वे कभी उस अनामय पद को [जो कर्मग्रन्थि के शिथिल होजाने पर केवल आत्मज्ञान द्वारा लभ्य है] नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु वारंवार जन्म मरण के चक्र में घूमते रहते हैं ॥ ७ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः
पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति
मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥१७॥

पदार्थः-(अविद्यायाम्, अन्तरे, वर्त्तमानाः) अविद्या के बीच में वर्त्तमान (स्वयं, धीराः, पण्डितम्मन्यमानाः) अपने को धीर और पण्डित

मानने वाले (अहन्यमानाः) दुःखों के मारे हुये (मूढाः) अविवेकिजन (अन्धेन, एव, नीयमानाः, यथा, अन्धाः) अन्धे से लेजाये गये जैसे अन्धे (परियन्ति) चारों ओर से टकराते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो लोग ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा करते हुवे केवल कर्मकाण्ड की उपासना में रत हैं और उसी को मोक्ष का साक्षात् साधन मानते हैं, वे चाहे अपने को धीर और पण्डित ही क्यों न मानें, परन्तु वास्तव में अविद्याग्रस्त हैं क्योंकि वे संसार के सुखाभास में मुग्ध होकर अपनी अवस्था को भूल जाते हैं फिर जब तीन ताप और पांच क्लेशों से सताये जाते हैं तब दीन होकर विलाप करने लगते हैं। ऐसे लोगों का अनुधावन करने वालों की वही दशा होती है जो कि अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धों की। यजुर्वेद की श्रुति भी इस बात को पुष्ट करती है "अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" अर्थात् जो केवल कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड से अनपेक्ष होकर उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं। अतएव विना ज्ञान के कर्म अधूरा है ॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था
इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेद-
यन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) मिथ्याज्ञान में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) प्रवृत्त हुए (वयं, कृतार्थाः, इति) हम कृतार्थ हैं ऐसा (अभिमन्यन्ति) मानते हैं (यत्) जिस कारण (कर्मिणः) केवल कर्म के उपासक (रागात्) फल में आसक्त होने से [उस के अनिष्ट परिणाम को] (न, प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इस लिये (आतुराः) दुःख से आर्त्त होकर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी उक्त अर्थ की ही पुष्टि की गई है। जो लोग आत्मज्ञान से वञ्चित हैं वे नाना प्रकार की अविद्या में फंसे हुवे अवर कर्म और उसके विनश्वर फल में ही अपने को कृतार्थ मानते हैं, सांसारिक विषय और उन का भोग ही उन के लिये सुख की पराकाष्ठा है। वे राग के पराग में लिपटे हुवे और वासना की रज्जु में बन्धे हुवे अपने वास्तविक हित

और उसके साधन को नहीं समझ सकते, अन्त में राग के बढ़ने और वासना की पूर्त्ति न होने से कातर होकर विलाप करते हैं या कर्मफल के क्षीण होने पर पुनः अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते
प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं
हीनतरञ्चाविशन्ति ॥ १० ॥ १९ ॥

पदार्थः-(प्रमूढाः) स्त्री पुत्र धन आदि पदार्थों में प्रमत्त जन (इष्टापूर्त्तम्) यज्ञादि श्रौत और वापी कूप तड़ागादि स्मार्त्तकर्मों को (वरिष्ठम्) श्रेष्ठ (मन्यमानाः) मानते हुये (अन्यत्, श्रेयः, न) इस के सिवाय और कोई कल्याण का मार्ग नहीं है ऐसा (वेदयन्ते) जानते हैं । (ते) वे (सुकृते, नाकस्य, पृष्ठे) भोग के स्थान स्वर्ग के ऊपर (अनुभूत्वा) [कर्मफल को] अनुभव करके (इमं, लोकम्) इस मर्त्यलोक को (हीनतरं, च) और इस से अधम तिर्यगादि लक्षण वाले नरक लोक को भी (आविशन्ति) कर्मफल के क्षीण होने पर प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः-फिर उसी विषय की पुष्टि करते हैं-यागादि श्रौत कर्मों को इष्ट और वापी, कूप, तड़ागादि स्मार्त्तकर्मों को पूर्त कहते हैं । यद्यपि बिना इन का विधिपूर्वक अनुष्ठान किये किसी को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सक्ती । तथापि इन को ही अनन्यभाव से श्रेय का मार्ग समझ बैठना बड़ी भारी भूल है क्योंकि इन का फल चाहे कितना ही दीर्घ क्यों न हो, फिर भी अपायी और अस्थायी है, अतएव ये सब मिल कर भी मनुष्य की उस भूख को (जिस से सताया हुवा यह कर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा है) नहीं बुझा सकते, प्रत्युत और उस को बढ़ा देते हैं, इस दशा में इन को सर्वोपरि मान बैठना और यह समझना कि इन के सिवाय और कोई श्रेय (मोक्ष) का मार्ग नहीं है, वास्तव में अपने उद्देश्य को भूल जाना है । अतएव केवल आत्मज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् साधन है ॥ १० ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो
भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः
प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥ २० ॥

पदार्थः–(ये, शान्ताः, विद्वांसः) जो समाहितचित्त ज्ञानी पुरुष (भैक्षचर्यां, चरन्तः) अपरिग्रहवृत्ति का आचरण करते हुवे (अरण्ये) वन में अथवा एकान्त में रहते हुवे (तपःश्रद्धे) कर्तव्यपालनादि तप और ब्रह्मोपासना रूप श्रद्धा का (उपवसन्ति) सेवन करते हैं (ते) वे (विरजाः) निष्पाप होकर (सूर्यद्वारेण) सूर्य की किरणों के द्वारा (प्रयान्ति) वहां जाते हैं (यत्र) जहां (हि) निश्चय (सः, अमृतः, अव्ययात्मा, पुरुषः) वह अमर और अक्षर पुरुष है ॥ ११ ॥

भावार्थः–यागादि कर्मकाण्ड का फल प्रतिपादन करके अब प्रसङ्गप्राप्त ज्ञानकाण्ड का फल कहते हैं। विषयों की असारता को अनुभव करके जिन के इन्द्रिय तथा मन शान्त हो गये हैं एवं कर्मफल की क्षीणता को देख कर जिन का आत्मा अविद्या के तिमिर को फाड़कर विद्या के विमल प्रकाश में पहुंच गया है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप का जिन को बोध हो गया है और जो वन में वा एकान्त में रहते हुवे, निष्कामभाव से विहित कर्मों का आचरण करते हुवे, सदा ब्रह्म की उपासना में तत्पर रहते हैं और निस्सङ्ग और निर्विकल्प होकर अनायास जो कुछ मिल गया उसी में अपनी शरीरयात्रा कर लेते हैं, ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष चाहे किसी वर्ण वा आश्रम में हों, कर्म करते हुवे भी उस के फल में लिप्त नहीं होते और इस भौतिक शरीर के छोड़ने पश्चात् सूर्य की किरणों के द्वारा उस अमृतधाम को प्राप्त होते हैं, जिस में शोक, मोह और भय का नाम नहीं और जो सदा उस अविनाशी पुरुष से (जो तीनों काल में एक रस रहता है) अधिष्ठित है ॥ ११ ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमा-
यान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा-
भिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥ २१ ॥

पदार्थः-(ब्राह्मणः) ब्रह्मविद्या का अधिकारी (कर्मचितान्, लोकान्) कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों वा गतियों को (परीक्ष्य) परीक्षा करके (निर्वेदम्) वैराग्य को (आयात्) प्राप्त होवे, क्योंकि संसार में कोई भी अर्थ जो कर्म का फलरूप है (अकृतः) नित्य (न, अस्ति) नहीं है, तब (कृतेन) कर्म से क्या प्रयोजन ? (तद्विज्ञानार्थम्) उस नित्य पदार्थ को

विशेषतया जानने के लिये (सः) वह विरक्त जिज्ञासु (समित्पाणिः) समिध् हाथ में लेकर (श्रोत्रियम्) वेदज्ञ (ब्रह्मनिष्ठम्) ब्रह्मपरायण (गुरुम्, एव) आचार्य को ही (अभिगच्छेत) प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

भावार्थः-विना फल के प्रवृत्ति नहीं होती, इस लिये प्रथम ब्रह्मज्ञान का फल कहकर अब उस के अधिकारी का कर्त्तव्य निरूपण करते हैं। श्रुति में अधिकारी को ब्राह्मण शब्द से निर्देश किया गया है सो यहां पर ब्राह्मण शब्द वर्णपरक नहीं है किन्तु ब्रह्मविद्या में जिस का स्वाभाविक अनुराग हो और जो उस के लिये सर्वस्व का त्याग कर सके वही यहां पर ब्राह्मण शब्द का वाच्यार्थ है। ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा जिस को उत्पन्न हुई है वह पहले कर्मचित लोकों की परीक्षा करे अर्थात् कर्म के द्वारा जो नाना प्रकार की मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट और वृक्षादि योनियां प्राप्त होती हैं और उन के निमित्त से जो २ गर्भ की यातनायें, जन्म मरण के त्रास, शत्रु और रोगादि के आक्रमण, लोभ, मोह, भय, शोक और द्वेषकृत नाना प्रकार के शारीरक, मानस ताप सहने पड़ते हैं; इन सब का परिणाम तत्त्वदृष्टि से देखकर और यह समझकर कि "सर्वमेव दुःखं विवेकिनः" संसार से विरक्त हो जावे और अपने मन में यह सोचे कि जब कर्म ही अनित्य है तो उस का फल नित्य कैसे हो सकता है "न ह्यध्रुवैः ध्रुवं प्राप्यते"। कर्म से उपरत होकर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है अब उस को कहते हैं:—इस प्रकार संसार की असारता और कर्मों की अनित्यता को ज्ञानदृष्टि से देखता हुआ जब जिज्ञासु निर्विण्ण हो जावे, तब वह उस नित्यवस्तु को यथार्थरूप से जानने के लिये नम्रतापूर्वक ऐसे आचार्य की शरण में जावे जो बहुश्रुत और ब्रह्मनिष्ठ हो, केवल अपनी तुच्छ बुद्धि के भरोसे पर कुतर्क और हेत्वाभास का ही आश्रय न लेवे, जैसा कि आजकल के प्रायः नवशिक्षितों में देखा जाता है। साधारण गणित और भूगोल आदि विषयों के जानने में तो एक नहीं अनेक आचार्यों की शिक्षा की अपेक्षा रखते हैं और चिरकाल तक उन का अभ्यास एवं परिशीलन करते हैं परन्तु असाधारण और सब से गहन ब्रह्मविद्या को विना सद्गुरु के और विना अभ्यास के केवल स्वकल्पिततर्क और हेतुओं में ही समाप्त कर देते हैं। समित्पाणि होकर गुरु के पास जाना पूर्वकाल में शिष्यों की परिपाटी थी जिस से उन की नम्रता और जिज्ञासा दोनों सूचित होती थीं ॥ १२ ॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(प्रशान्तचित्ताय) शान्तचित्त (शमान्विताय) शमदमादि साधनों से सम्पन्न (उपसन्नाय) समीप में प्राप्त हुवे (तस्मै) उस शिष्य के लिये (सः, विद्वान्) वह बहुश्रुत आचार्य (सम्यक्) यथाशास्त्र (येन) जिस विद्या से (अक्षरं, सत्यं, पुरुषं, वेद) अविनाशी और अविकारी पुरुष को जानता है (तां, ब्रह्मविद्याम्) उस ब्रह्मविद्या को (तत्त्वतः) यथावत् (प्रोवाच) उपदेश करै ॥ १३ ॥

भावार्थः—शिष्य का कर्त्तव्य कह कर अब आचार्य का कर्त्तव्य निरूपण करते हैं—इस प्रकार अभिमान को त्याग कर और शमदमादि परमार्थ के साधनों से युक्त होकर जिज्ञासु एवं अधिकारी शिष्य जब आचार्य के समीप प्राप्त होवे, तब विद्वान् आचार्य उस के लिये शास्त्र की विधि से अनुसार यथावत् उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करै जिस के द्वारा वह अविनाशी और अविकारी पुरुष (जिस में देश, काल और वस्तु के भेद से कभी कोई विकार या परिणाम उत्पन्न नहीं होता किन्तु जो सब देश, सब काल और सब वस्तुओं में सदा एकरस व्यापक रहता है) जाना जाता है । जिस प्रकार शिष्य को शास्त्र की मर्यादापूर्वक ही प्रश्न करने का अधिकार दिया गया था उसी प्रकार आचार्य को भी शास्त्र के ही आधार पर उत्तर देने का अधिकार दिया गया है। बस सच्चा आचार्य वही है जो शास्त्र के आधार पर शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है, न कि वह जो केवल शिष्य के कान में मन्त्र फूंककर या कण्ठी बान्धकर सदा उस से अपना प्रयोजन सिद्ध करता है ॥ १३ ॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तं मुण्डकं चैतत् ॥ १ ॥

—:o*o:—

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(तद्, एतत्) वह यह ब्रह्म (सत्यम्) सत्य है (यथा) जैसे (सुदीप्तात्-पावकात्) प्रदीप्त अग्नि से (सरूपाः) समानरूप वाले (सहस्रशः) सहस्रों (विस्फुलिङ्गाः) अग्निकण [चिनगारियां] (प्रभवन्ते) उत्पन्न होते हैं (तथा) वैसे ही (सोम्य) हे शिष्य ! (अक्षरात्) अविनाशी पुरुष से (विविधाः, भावाः) नाम, रूप और देहादि भेद से अनेक प्रकार के प्रतीयमान भाव (प्रजायन्ते) प्रकट होते हैं (च) और (तत्र, एव) उस ही में (अपि, यन्ति) लीन भी होजाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—पहले मुण्डक में अपरा विद्या और उस का फल उसी के सम्बन्ध में पराविद्या और उस का फल भी वर्णन किया गया अब इस दूसरे मुण्डक में अपरा विद्या के कार्यरूप इस संसार का जो आदिमूल है उस पराविद्याख्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है । यद्यपि अपराविद्या का विषय कर्म और उस का फल भी शास्त्रमूलक होने से सत्य है, तथापि उस की सत्यता परिणामी होने से आपेक्षिक है न तु वास्तविक । परन्तु यह पराविद्या का विषय ब्रह्म और उस का यथार्थ ज्ञान अपरिणामी होने से वास्तविक सत्य है । अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है तो फिर उस की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर दृष्टान्त के द्वारा इस श्रुति में दिया गया है । जैसे प्रदीप्त अग्नि से अग्नि की सत्ता का बोध कराने वाली अनेक चिनगारियां उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में लीन भी हो जाती हैं । इसी प्रकार सर्वत्र प्रकाशमान उस पुरुष से उस की गुणमयी सत्ता को प्रकट करने वाले ये नाना नाम रूप और देहादि भाव प्रतीयमान हो रहे हैं और फिर प्रलय में ये सब अपने कृत्रिम भावों को छोड़ कर उसी में लीन हो जाते हैं अतएव तत्त्वदर्शी पुरुष के लिये ये अपनी इस कृत्रिमदशा में भी अपने आदिकारण ब्रह्म की ही प्रतीति

करा रहे हैं। जैसे दृष्टान्त में अनेक प्रकार के विस्फुलिङ्ग केवल अग्नि की सत्ता का परिचय देने के लिये हैं, इसी प्रकार दार्ष्टान्त में नाना प्रकार के भाव और पदार्थ अपने उत्पादक ईश्वर का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥ १॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ २ ॥ २४ ॥

पदार्थः-(दिव्यः) प्रकाशमान (हि) जिस कारण (अमूर्त्तः) मूर्त्ति-रहित है अतएव (पुरुषः) सर्वत्र व्यापक है (सः, बाह्याभ्यन्तरः) वह सर्व व्यापक होने से बाहर और भीतर सर्वत्र वर्त्तमान है (हि) इस लिये (अजः) जन्मरहित है (हि) इस लिये (अप्राणः) शरीरसञ्चारी प्राण वायु से रहित (अमनाः) सङ्कल्पविकल्पात्मक मनोवर्जित (हि) अतएव (शुभ्रः) मलरहित (परतः, अक्षरात्) सब से सूक्ष्म अव्याकृत प्रकृति से भी (परः) परम सूक्ष्म है ॥ २ ॥

भावार्थः--अब उस पुरुष के (जिस से यह सारा जगत् उत्पन्न हुवा है) स्वरूप का निरूपण करते हैं--वह आत्मा (दिव्यः) अप्राकृत होने से (अमूर्त्तः) तीनों प्रकार के शरीरों से रहित है । जैसे काष्ठादि मूर्त्तिमान् पदार्थों को प्रकाशित करता हुवा अग्नि स्वयं अमूर्त्त है, इसी प्रकार सूर्यादि बड़े २ मूर्त्तपिण्डों को प्रकाशित करता हुवा वह ब्रह्म रूप अग्नि आप मूर्त्ति और व्यक्ति आदि के विकारों से सर्वथा रहित है । अमूर्त्त होने ही से पुरुष कहलाता है अर्थात् इस समस्त ब्रह्माण्ड में भीतर और बाहर एकरस होकर भरपूर हो रहा है, पृथिव्यादि स्थूल भूतों में ही नहीं किन्तु आकाश दिक् और काल जैसे सूक्ष्म पदार्थों में भी व्यापक होरहा है । व्यापक होने से ही अज है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् है। अज होने से प्राण और मन आदि करणों से भी रहित है। क्योंकि प्राण वहीं रह सकता है जहां उस को अवकाश मिले, निरवकाश में उस की स्थिति कैसे हो सकती है? इसी प्रकार मन भी चाहे कैसा ही वेगवान् क्यों न हो तथापि परिछिन्न है. फिर वह विभु आत्मा का सहचारी कैसे हो सकता है? इन सब उपाधियों से रहित होने के कारण ही वह शुद्ध है अर्थात् उस में कोई मल या विकार नहीं, अतएव वह इस जगत् के अनादि कारण प्रकृति से भी परम सूक्ष्म है ॥ २ ॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥ २५ ॥

पदार्थः-(एतस्मात्) इसी अविनाशी पुरुष से (प्राणः) जीवन का आधार प्राण (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मक मन (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रिय (च) और उनके विषय (खम्) आकाश (वायुः) पवन (ज्योतिः) अग्नि (आपः) जल (विश्वस्य, धारिणी) विश्व को धारण करने वाली (पृथिवी) भूमि (जायते) उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

भावार्थः पुरुष के स्वरूप का वर्णन करके अब उस की शक्ति का वर्णन करते हैं । ये सब प्राण, मन, इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत यथाक्रम जैसा कि वर्णन कर आये हैं उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं । अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब इस से पहिले श्लोक में ब्रह्म को 'अप्राण' और 'अमनस्क' कहा गया है तब यहां पर उस से ही प्राण और मन आदि की उत्पत्ति मानना वदतोव्याघात दोष से युक्त है क्योंकि जब वह प्राण और मन आदि साधनों से रहित है तब ये उस से उत्पन्न कैसे होते हैं इस का समाधान यह है कि वास्तव में ब्रह्म अपने स्वरूप से निरुपाधिक है । श्रुति भी कहती है "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" उस का कोई कार्य वा करण नहीं है परन्तु यहां पर वा अन्यत्र जहां कहीं जगत् के उपादानत्वेन ब्रह्म का वर्णन किया गया वा किया जाता है, इस का कारण यह है कि क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति के अधीन होने से अप्रधान है, प्रधान की उपस्थिति में अप्रधान का निर्देश कोई नहीं करता । जैसे पुत्रादि की उत्पत्ति स्त्री से होते हुवे भी वे पुरुष के ही कहलाते हैं इसी प्रकार प्राणादि भौतिक पदार्थ प्रकृति का कार्य होते हुवे भी ब्रह्म से उत्पन्न माने जाते हैं । ज्ञान का जो अधिकरण है उसी के लिये कर्तृ शब्द का व्यपदेश किया जाता है । जैसे हनन क्रिया का व्यपदेश सर्वत्र हन्ता पर ही होगा न कि शस्त्र पर । बस यही कारण है कि ब्रह्म से इन की उत्पत्ति कही गई है ॥ ३ ॥

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी

ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(अस्य) इस पुरुष का (अग्निः) द्युलोक (मूर्द्धा) मस्तक है (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्रमा और सूर्य (चक्षुषी) आँखें हैं (दिशः) दिशायें (श्रोत्रे) कान हैं (वेदाः) ज्ञानमय वेद (वाग्विवृताः) फैली हुई वाणी हैं (वायुः) पवन (प्राणः) प्राण हैं (विश्वम्) समस्त जगत् (हृदयम्) हृदय है (पद्भ्याम्) पैरों में (पृथिवी) भूमि [उपलक्षित होती है] (हि) निश्चय (एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

भावार्थः—अब उसी अनादि पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन करते हैं—अग्नि ऊर्ध्वगामी होने से उस का मस्तकवत् है, चन्द्र, सूर्य संसार के चक्षु होने से उस के नेत्रवत् हैं, दिशायें अवकाश वाली होने से उस के श्रोत्रवत् हैं, वेद ज्ञानमय होने से उस की वाणी (उपदेश) कहलाते हैं, वायु सर्वसञ्चारी होने से उस के प्राण हैं और यह सारा ब्रह्माण्ड उस का उदर इस लिये है कि सब कुछ इसी में समाया हुआ है, पैरों से पृथिवी का उपलक्षित होना इस लिये कहा गया है कि जैसे शरीर के अधोभाग में पाद स्थित हैं ऐसे ही ब्रह्माण्ड के अधोभाग में यह पृथिवी निहित है। इस प्रकार जो ब्रह्म सम्पूर्ण देश, काल और वस्तु को अपनी व्याप्ति से आच्छादन किये हुवे है वही चराचर जगत् का अन्तरात्मा है । यहां भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ब्रह्म निराकार एवं निरुपाधिक है तो फिर उस के अङ्गों की कल्पना कैसी ? इस का उत्तर यह है कि उस सर्वोपाधि-विवर्जित ब्रह्म में यह अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना केवल दूसरों को समझाने के लिये है, यों तो "अशब्द" होने से शब्दों के द्वारा उस का वर्णन भी नहीं किया जा सकता, परन्तु हम मनुष्य बिना शब्दों के प्रयोग के किस प्रकार अपना भाव दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं, बस उस का महत्त्व जतलाने के लिये अनन्यगत्या हम इस औपचारिक रीति का अवलम्बन करते हैं । ब्रह्म के ही विषय में नहीं किन्तु अन्य विषयों में भी हम इस काल्पनिक रीति का अनुसरण करते हैं । जैसे नग्न पुरुष का प्रायः " दिगम्बर " शब्द से व्यवहार किया जाता है । जैसे " दिगम्बर " का तात्पर्य केवल वस्त्राभाव से है, ऐसे ही "विश्वोदर" और " विश्वचक्षु " इत्यादि शब्दों का तात्पर्य भी 'उदर' और ' चक्षु ' आदि अङ्गों का अभाव ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥५॥२७॥

पदार्थः-(तस्मात्) उस परमपुरुष से (अग्निः) संसार का अवस्थान जिस से होता है ऐसा अग्निरूप द्रव्य उत्पन्न होता है (यस्य) जिस अग्नि का (सूर्यः) सूर्यलोक (समिधः) इन्धन है (सोमात्) उस अग्नि से निकले हुवे सोम से (पर्जन्यः) जलरूप बादल उत्पन्न होता है, जल से (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधयः) ओषधियें उत्पन्न होती हैं (पुमान्) ओषधियों से उत्पन्न हुवा वीर्य तद्वान् पुरुष (रेतः) वीर्य को (योषितायाम्) स्त्री में (सिञ्चति) सींचता है (बह्वीः, प्रजाः) इस प्रकार क्रम से नानाविध प्रजा (पुरुषात्) पुरुष से (सम्प्रसूताः) उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—अब यहां से लेकर नवमी श्रुति तक इस सम्पूर्ण कार्यरूप जगत् का उस पुरुष से उत्पन्न होना दिखलाया गया है । प्रथम उस पुरुष से अग्नि जो सूर्यरूप से सब का पालनपोषण और सोमरूप से सब का आप्यायन करता है उत्पन्न होता है, उस अग्नि से जल, जल से पृथिवी में ओषधियां, ओषधियों से वीर्य और वीर्य से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती हैं, परन्तु इन सब का आदि कारण पुरुष ही है ॥ ५ ॥

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥ (२८)

पदार्थः-(तस्मात्) उस से (ऋचः) गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र (साम) सोमादि गीतिविधायक मन्त्र (यजूंषि) गद्यात्मक मन्त्र (दीक्षाः) उपनयनादि संस्कार (च) और (सर्वे, यज्ञाः) सब अग्निहोत्रादि यज्ञ (क्रतवः) वाजपेय राजसूयादि इष्टयाग (दक्षिणाः) श्रद्धापूर्वक दान (च) और (संवत्सरम्) वत्सर आदि काल के अङ्ग (च) और (यजमानः) कर्त्ता (च) और (लोकाः) फल के अधिष्ठान अनेक लोक (यत्र) जहां पर (सोमः)

चन्द्रमा (पवते) पवित्र करता है (यत्र) जहां पर (सूर्य्यः) सूर्य (पवते) पवित्र करता है ॥ ६ ॥

भावार्थः–उस ही पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदरूप त्रयीविद्या और तत्प्रतिपाद्य सोलह संस्कार, नित्य और नैमित्तिक यज्ञ और उन में होने वाले दान और यज्ञ का अधिकरण संवत्सरोपलक्षित काल, यजमान ऋत्विगादि कर्त्ता, यज्ञफल के अधिष्ठानरूप चन्द्र सूर्यादि लोक (जो दक्षिणायन और उत्तरायण भेदों के द्वारा भिन्न २ प्रभाव सब पदार्थों पर डालते हैं) उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥ (२९)

पदार्थः–(तस्मात्) उस से (बहुधा) अनेक प्रकार के (देवाः) दिव्यगुणविशिष्ट देवगण (साध्याः) देव विशेष (मनुष्याः) मध्यम गुणविशिष्ट मनुष्यवर्ग (पशवः) पशुआदि (वयांसि) पक्षिगण (प्राणापानौ) प्राण और अपान (व्रीहियवौ) व्रीहि और यव (च) और (तपः) फल के साधन (श्रद्धा) आस्तिक्य बुद्धि (सत्यम्) यथार्थ और हितकर वचन (ब्रह्मचर्यम्) इन्द्रियों का संयम (च) और (विधिः) कर्त्तव्य; ये सब (प्रसूताः) उत्पन्न हुवे हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः–उस ही पुरुष से देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जातियां और उन के अवान्तर भेद उत्पन्न होते हैं तथा जीवन के हेतु प्राणापान (जो उपलक्षण हैं वायु मात्र के) और प्राण के आधार व्रीहि यव (जो उपलक्षण हैं अन्नमात्र के) तथा वैदिक कर्मकाण्ड के प्रधान अङ्ग तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और इन सब का विधिरूप शास्त्र जिस में इन की कर्त्तव्यता का निरूपण किया गया है, क्रमशः उत्पन्न हुवे हैं अर्थात् इन सब का आदि कारण वही पुरुष है ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः । सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥ (३०)

पदार्थः-(सप्त प्राणाः) चक्षु, श्रोत्र, नासिका और मुख के सात विवरों में रहने वाले सात प्राण (सप्तार्चिषः) सात ही उन के अर्थों को प्रकाश करने वाली वृत्तिरूप ज्वालायें (सप्त समिधः) सात ही उन की विषयरूप समिधायें [जिन से कि वे प्रदीप्त होते हैं] (सप्त होमाः) सात ही उन के ज्ञानरूप होम [जिन से कि उन में विषयों का होम किया जाता है] (इमे, सप्त लोकाः) ये सात इन्द्रियों के स्थान (येषु) जिन में (गुहाशयाः, सप्त, सप्त,निहिताः) बुद्धि में वा हृदय में सात सात स्थित हुवे (प्राणाः) प्राण (चरन्ति) विचरते हैं (तस्मात्) उसी से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः-" चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते " इस प्रश्नोपनिषद् की श्रुति के अनुसार दो आंख, दो कान, एक मुख और दो नासिका; इन सात इन्द्रिय विवरों में प्राण स्वयं रहता है, इस लिये ता-त्स्थ्य लक्षण से ये सात इन्द्रियच्छिद्र सात प्राण कहलाते हैं और इन के विषयों को प्रकाश करने वालीं जो सात वृत्तियां हैं वे ही सात ज्वालायें हैं, इसी प्रकार इन के जो सात विषय हैं वे ही सात समिध् हैं। जैसे समिधों से अग्नि प्रदीप्त होता है ऐसे ही विषयों से भोग की वासना बढ़ती है और सात ही उनके विज्ञानरूप होम हैं जिन से यह फलासक्त होकर इन्द्रियाग्नि में जो विषयेन्धन से प्रदीप्त होता है और जिस में इस की वासनावृत्तिरूप ज्वालायें लपटें लेती हैं, अपने वीर्यरूप हव्य में से शक्तिरूप आहुतियों का होम करता है और सात स्थान विशेष ही जिन में कि ये शरीरस्थ प्राण विचरते हैं, सात लोक कहलाते हैं। तात्पर्य इस का यह है कि दोनों प्र-कार के याज्ञिक, एक वे जो निष्काम भाव से प्राणाग्नि में विज्ञानरूप हव्य का होम करते हैं अर्थात् योगाभ्यास द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, दूसरे वे कि जो स्वर्ग की कामना से इन्द्रियाग्नि में कर्म रूप हव्य का हवन करते हैं अर्थात् शास्त्रविहित कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते हैं, इन दोनों के कर्म, साधन और उन के फल उसी सर्वज्ञ पुरुष से उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥ ३१ ॥

पदार्थः-(अतः) इस पुरुष से (समुद्राः) समुद्र (च) और (सर्वे, गिरयः) सब पहाड़ उत्पन्न होते हैं (अस्मात्) इस ही से (सर्वरूपाः, सिन्धवः) बहुरूप नदियां (स्यन्दन्ते) स्रवित होती हैं (च) और (अतः) इस ही से (सर्वाः, ओषधयः) सारी ओषधियें (च) और (रसः) मधुरादि ६ प्रकार का रस उत्पन्न होता है (येन) जिस रस से (एषः, अन्तरात्मा) यह लिङ्गशरीरसहित जीवात्मा (भूतैः) पञ्चभूतों के साथ (तिष्ठते) शरीर में ठहरता है ॥ ९ ॥

भावार्थः-उस ही पुरुष से अग्नि के द्वारा जल उत्पन्न होकर से सब समुद्र और नदियां प्रस्रवित होती हैं, फिर इन्हीं से पार्थिव पर्वत और वृक्षादि ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जिन से ६ प्रकार के रस उत्पन्न होकर भौतिक शरीर को पुष्ट करते हुवे उस में जीवात्मा की स्थिति का कारण होते हैं । तात्पर्य यह है कि चराचर सृष्टि उस से उत्पन्न होकर उसी में स्थित हो रही है, वह इस समस्त सृष्टि का उत्पादक होने पर भी आप उत्पत्ति और विनाश के धर्मों से पृथक् है ॥ ९ ॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं
विकिरतीह सोम्य ! ॥ १० ॥ ३२ ॥

पदार्थः-(इदम्, विश्वम्) यह सारा संसार (पुरुषः, एव) पुरुषमय ही है, वह सब क्या है ? (कर्म) कर्त्तव्यरूप कर्म (तपः) ज्ञानरूप तप (परामृतम्) परम अमृत रूप (ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् कार्यरूप होने से ये सब अपने उसी अनादि कारण को जतलाते हैं (सोम्य) हे प्रियदर्शन शिष्य ! (यः) जो विज्ञानात्मा (गुहायां, निहितम्) हृदय में स्थित (एतत्) इस पुरुष को (वेद) जानता है (सः) वह (इह) इस जीवन में ही (अविद्याग्रन्थिम्) कर्मग्रन्थि को (विकिरति) क्षीण करता है ॥ १० ॥

भावार्थः-अब इस खण्ड के अन्तिम श्लोक में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का उपसंहार करते हुवे आचार्य कहते हैं कि यतः पुरुष से यह जगत् उत्पन्न हुवा है अतः यह सब पुरुष का ही बोधक है । जैसे पिता से उत्पन्न होने के कारण पुत्र उस का बोधक कहलाता है, इसी प्रकार पुरुष से उत्पन्न हुवा

जगत् उसी का बोधक है। इस का कोई महाशय यह तात्पर्य न समझ बैठें कि यह जगत् ही ब्रह्मरूप है किन्तु जैसे पुत्र अपनी सत्ता से पिता के महत्त्व को और जैसे मूर्ति अपनी विद्यमानता से शिल्पी के चातुर्य को प्रकाशित करते हैं, ऐसे ही यह जगत् अपने अस्तित्व से ब्रह्म की महिमा को प्रकट कर रहा है और यही इस का ब्रह्ममय होना है। इस का ब्रह्म नाम ही इस लिये है कि इस अनन्त और विस्तृत ब्रह्माण्ड के द्वारा उस के महत्त्व का अनुभव किया जाता है। जगत् की स्थिति के दो साधन हैं-एक कर्म और दूसरा ज्ञान, इन दोनों के यथाक्रम सेवन से जो उस हृदयस्थ पुरुष को जानता है, वह इस अविद्याजन्य कर्मग्रन्थि के गोरखधन्धे को सुलझाकर निधानरूप महार्ह रत्न को अपने करतलगत करता है ॥ १० ॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥ ॥ ३३ ॥

पदार्थः-जो (आविः) प्रकाशमान (सन्निहितम्) सब में स्थित (गुहाचरं, नाम) बुद्धि वा हृदय में विचरने वाला प्रसिद्ध है वह (महत्, पदम्) प्राप्तव्य पदार्थों में सब से बड़ा है (अत्र) इस में (एजत्) चलने वाले पक्ष्यादि (प्राणत्) प्राणवाले मनुष्य पश्वादि (निमिषत्) निमेषवाले (च) अनिमेष वाले भी (एतत्) ये सब (समर्पितम्) प्रविष्ट हैं, (यत्) जो (सदसद्वरेण्यम्) स्थूल और सूक्ष्म सब पदार्थों से ग्रहण करने योग्य (वरिष्ठम्) सब से श्रेष्ठ (प्रजानाम्) मनुष्यों के (विज्ञानात्) विज्ञान से (परम्) आगे है (तद्, एतत्) उस इस पुरुष को (जानथ) जानो ॥ १ ॥

भावार्थः-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति और तद्द्वारा उस की महिमा को वर्णन करके अब वह अरूप अक्षर किस प्रकार जाना जाता है, यह विषय

इस खण्ड में निरूपण किया जायगा । प्रथम दो श्लोकों में उस के स्वरूप का वर्णन किया गया है । जो सर्वत्र प्रकाशमान पुरुष है वह अन्तर्यामि-रूप से सब के हृदय में विराजमान है । यद्यपि उस की सत्ता प्रत्येक वस्तु, देश और काल में व्याप्त है, तथापि मनुष्य का अन्तःकरण उस का अधिष्ठान होने से बुद्धि और मन को उस का निवासस्थान माना गया है । यतः उस की ही शक्ति प्रत्येक वस्तु, देश और काल में विविध प्रकार से अपना काम कर रही है, अतः उस का नाम ब्रह्म है । अर्थात् वह सब से बड़ा और सब पर अधिष्ठाता है । उसी में यह सारा चराचरात्मक विश्व इस प्रकार ओतप्रोत होरहा है, जैसे केन्द्र पर रेखायें । यद्यपि हमारी बुद्धि आध्यात्मिक विद्या की सहायता से उस का अनुभव और ग्रहण करती है, तथापि अपनी परिमित सीमा में उस को आबद्ध और आक्रान्त नहीं कर सकी । उस का ज्ञान हमारे लिये सदा अभ्यास का साधन है, न कि तद्विषयक बोध की पूर्णता । अतएव यह समझ कर कि उस का ज्ञान हमारी बुद्धियों के लिये एक कभी न समाप्त होने वाला उद्योग है, हम को उस की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका
निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स
प्राणस्तदु वाङ् मनः । तदेतत्सत्यं तद-
मृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥ ३४ ॥

पदार्थः-(यत्) जो (अर्चिमद्) प्रकाशमान है (यत्) जो (अणुभ्यः) परमाणुओं से भी (अणु) सूक्ष्म है (यस्मिन्) जिस में (लोकाः) सम्पूर्ण सूर्यादि लोक (च) और (लोकिनः) उन के निवासी मनुष्यादि प्राणी (निहिताः) स्थित हैं (तद्, एतद्) वह यह (अक्षरम्) अविनाशी (ब्रह्म) महापुरुष है (सः) वह (प्राणः) सब का जीवनाधार होने से प्राण है (तद्, उ) और वही (वाङ् मनः) वाणी और मन का भी प्रवर्त्तक है (तद् एतद्) वह यह (सत्यम्) सदा एकरस वर्त्तमान (तद्) वह (अमृतम्) अविनाशी (तद्) वह (वेद्धव्यम्) वेधने के योग्य है, इस लिये (सोम्य) हे सौम्य ! (विद्धि) वेधन कर ॥ २ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी ब्रह्म का ही निरूपण किया गया है। जो प्रकाश का पुञ्ज है अर्थात् जिस के प्रकाश से सूर्यादि लोक प्रकाशित होते हैं। प्रकाश पुञ्ज कहने से सूर्यादिवत् ब्रह्म में भी इन्द्रियों का विषय होने की सम्भावना होती है, उस का निवारण करने लिये ही श्रुति "अणुभ्योऽणु" कहती है अर्थात् वह परमाणुओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, तब ब्रह्म परिमाण वाला ठहरेगा क्योंकि परमाणु सूक्ष्म होने पर भी परिमाण रखते हैं। इस दोष का परिहार करने के लिये श्रुति उस के महत्त्व को दिखलाती है अर्थात् वह इतना बड़ा है कि उसमें ये सारे लोकलोकान्तर और इन के निवासी समाये हुये हैं। "अणोरणीयान् महतोमहीयान्" यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है, फिर उस का परिमाण कोई क्योंकर कर सकता है? महत् होने से ही उस का नाम ब्रह्म है, वही चराचर की स्थिति का आधार होने से प्राण और वही वाणी और मन का प्रवर्त्तक होने से वाक् और मन है। केनोपनिषद् में भी कहा है—"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः" अर्थात् वह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी और प्राण का प्राण है। वही सब शक्तियों का केन्द्र तीनों काल में एकरस रहनेसे सत्य, उत्पत्ति और विनाश रहित होने से अमृत है, वही सब को हृदय में धारण करने योग्य है। हे शिष्य! उसी में मन लगा॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा-
निशितं सन्धीयत। आयम्य तद्भावगतेन
चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ ३॥ (३५)

पदार्थः—(औपनिषदम्) उपनिषत्सम्बन्धी (महास्त्रं, धनुः) धनुषरूप अस्त्र (गृहीत्वा) पकड़कर (हि) निश्चयपूर्वक उस में (उपासानिशितं, शरम्) उपासना से तीक्ष्ण बाण को (सन्धीयत) जोड़े (तद्भावगतेन, चेतसा) उस अक्षर के ध्यान में लीन हुये चित्त से (आयम्य) खींचकर (तद्, एव, अक्षरम्) उस ही अक्षररूप (लक्ष्यम्) लक्ष्य को (सोम्य) हे शिष्य! (विद्धि) वेधन कर॥३॥

भावार्थः—अब उस सूक्ष्म ब्रह्म को ग्रहण करने का उपाय दृष्टान्त के द्वारा बतलाते हैं। जैसे किसी लक्ष्य (निशाने) को वेधने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। एक धनुष, दूसरे बाण, तीसरे मन की वृत्ति

को सब ओर से हटाकर उसी लक्ष्य में लगा देगा। जब तक ये तीनों साधन अनुकूल न हों, तब तक कोई लक्ष्य को नहीं वेध सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य ब्रह्मरूप अतिसूक्ष्म लक्ष्य को वेधना चाहता है, प्रथम उस को उपनिषद् (वेदान्तशास्त्र) का महत् एवं दृढ धनुष् हाथ में लेना चाहिये। पुनः उपासना (अभ्यास) में तीक्ष्ण बाण को उस में जोड़ना चाहिये। तत्पश्चात् अपने मन की वृत्तियों को तद्‌तिरिक्त पदार्थों से हटाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य में ही लगा देना चाहिये। ऐसा करने से वह निस्सन्देह अपने लक्ष्य को वेध सकेगा अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने अभीष्ट को सिद्ध करेगा ॥ ३ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत् ॥ ४ ॥ (३६)

पदार्थः–(प्रणवः) ओङ्कार (धनुः) धनुष् है (हि) निश्चय (आत्मा) जीवात्मा (शरः) बाण है (तद्, ब्रह्म) वह ब्रह्म (लक्ष्यम्) लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है (अप्रमत्तेन) प्रमादरहित से (वेद्धव्यम्) वेधना चाहिये (शरवत्) बाण के तुल्य (तन्मयः) लक्ष्यगत (भवेत्) हो जावे ॥ ४ ॥

भावार्थः–अब उसी विषय को दूसरे दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। ओङ्कार ही धनुष् है, जीवात्मा उस का बाण है और लक्ष्य वही पूर्वोक्त ब्रह्म है। मुमुक्षु को चाहिये कि प्रथम ओङ्काररूप धनुष् में आत्मरूप बाण को चढ़ावे अर्थात् ओङ्कार के बारम्बार अभ्यास से अपने आत्मा को बलिष्ठ बनावे, तत्पश्चात् अप्रमत्त होकर अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके वाचक की सहायता से वाच्यरूप लक्ष्य को आत्मरूप बाण से वेधन करे। जिस प्रकार बाण लक्ष्य में पहुंच कर तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म में पहुंचा कर तन्मय कर देवे, तब मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ॥ ४ ॥

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह
प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥ ३७ ॥

पदार्थः–(अस्मिन्) इस पुरुष में (द्यौः) द्युलोक (पृथिवी) भूमि (च) और (अन्तरिक्षम्) आकाश (च) और (सर्वैः, प्राणैः, सह, मनः)

सब प्राणों के साथ मन (ओतम्) समर्पित है (तम्, एव, एकम्, आत्मानम्) उस ही एक आत्मतत्त्व को (जानथ) जानो (अन्याः, वाचः) तद्भिन्न और बातों को (विमुञ्चथ) छोड़ो क्योंकि (एषः) यही आत्मा (अमृतस्य) मोक्षप्राप्ति के लिये भवसागर को तरने का (सेतुः) पुल है ॥ ५ ॥

भावार्थ,-पुरुष के दुर्गम होने से पुनः उस का निरूपण किया जाता है। इस ही पुरुष में कि जिस का तुम्हारे प्रति वर्णन किया गया है, पृथिव्यादि प्रकाश्य और सूर्य्यादि प्रकाशक लोक और इन का आधारभूत यह आकाश, यह सब आधिभौतिक जगत् ठहरा हुवा है। एवं सब प्राणों के साथ मन भी जो आत्मा का करण होने से आध्यात्मिक जगत् कहलाता है इसी में अटका हुवा है। उसी एक आत्मतत्त्व को कि जिस में यह सारा ब्रह्माण्ड (क्या आधिभौतिक और क्या आध्यात्मिक) ओत प्रोत हो रहा है, सब झगड़ों को छोड़ कर श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा अपने हृदयङ्गम करो, क्योंकि वही इस भवसागर से (जिस में प्राणी डूबते और उछलते हैं) तरने के लिये एक दृढ़ सेतु (पुल) है। इसी की पुष्टि वेद भगवान् भी करते हैं "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उसी आत्मतत्त्व को जान कर मनुष्य मृत्यु को उल्लङ्घन करता है और कोई मार्ग मृत्यु से बचने का नहीं है ॥ ५ ॥

अराइव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषो-
ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ
आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥ ३८ ॥

पदार्थः-(यत्र) जहां पर (रथनाभौ, अराइव) रथनाभि में अरों के समान (नाड्यः) नाड़ियां (संहताः) जुड़ी हुई हैं, वहां (सः, एषः) यह आत्मा (बहुधा) अनेक प्रकारों से (जायमानः) प्रसिद्ध हुवा (अन्तः, चरते) भीतर विचरता है (आत्मानम्) उस आत्मा को (ओम्, इति, एवम्) "ओम्" इस वाचक शब्द का अवलम्बन करके (ध्यायथ) ध्यान करो (वः) तुम्हारा (स्वस्ति) कल्याण हो (पाराय) भवसागर के पार होने के लिये (तमसः परस्तात्) जो अन्धकार से परे है, उस का आश्रय ग्रहण करो ॥ ६ ॥

भावार्थः—यद्यपि वह ब्रह्म सूक्ष्म होने से सर्वत्र ही व्यापक है तथापि हृदय (जो नाड़ियों का केन्द्र है), उस का विशेषरूप से निवासस्थान माना गया है। गीता में भी भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रति कहा है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" इस जगत् रूप यन्त्र को माया की शक्ति से घुमाता हुआ ईश्वर सब प्राणियों के हृदयरूप देश में निवास करता है। बस उस हृदय में दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि अनेक प्रत्ययों से [जो बुद्धि की साक्षिता में उत्पन्न होते हैं] उपलक्षित होता हुआ वह पुरुष निवास करता है। उस प्रकाशमय पुरुष का यदि संसारसागर से पार उतरना चाहते हो तो "ओम्" इस वाचकाभिधान से [जो अनन्यतया केवल उसी का प्रतिपादन करता है] ध्यान करो, यही तुम्हारे कल्याण का मार्ग है ॥ ६ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥ मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ (३९)

पदार्थः—(यः) जो (सर्वज्ञः) सब का ज्ञाता (सर्ववित्) सब में वर्तमान है (यस्य) जिस की (भुवि) संसार में (एषः) यह (महिमा) विभूति है (हि) निश्चय (एषः) यह (ब्रह्मपुरे, व्योम्नि) हृदयाकाश में (प्रतिष्ठितः) स्थित है (मनोमयः) मन में व्यापक (प्राणशरीरनेता) प्राण और शरीर का चलाने वाला (हृदयम्) बुद्धि को (अन्ने) अन्न में (सन्निधाय) स्थापित करके (प्रतिष्ठितः) स्थित है (तद्विज्ञानेन) उस के विज्ञान से (धीराः) धीरजन (आनन्दरूपम्, अमृतम्) आनन्दरूप अमृत को (यत्, विभाति) जो सर्वत्र प्रकाशमान है (परिपश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—फिर उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—जो सब का जानने वाला पुरुष है, जिस की विभूति और कीर्ति संसार में व्याप्त हो रही है, वह

महान् आत्मा उस हृदयाकाश में [जो ब्रह्म का निवासस्थान होने से ब्रह्म-पुर और बुद्धि का अधिष्ठान होने से दिव्य कहलाता है] अन्नमय कोश में प्राणमय कोश को स्थापित करके और स्वयं उस की स्थिति का आधार होकर प्राण और शरीर को चलाता हुवा प्रतिष्ठित है, उसीके सम्यक् विज्ञान से धीर लोग उस आनन्दमय पद को सर्वत्र देखते हैं ॥ ७ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥४०॥

पदार्थः-(तस्मिन्, परावरे) उस सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् ब्रह्म के (दृष्टे) जानलेने पर (हृदयग्रन्थिः) वासनामय अविद्या की गांठ (भिद्यते) टूट जाती है (सर्वसंशयाः) अज्ञान से उत्पन्न सारे संशय (छिद्यन्ते) नष्ट होजाते हैं (च) और (अस्य) इस विच्छिन्नसंशय के (कर्माणि) प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाणरूप से तीनों प्रकार के कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण होजाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः-अब उस आत्मज्ञान का फल वर्णन करते हैं । उस परावर पुरुष के कि जो सूक्ष्म कारण और स्थूल कार्य इन दोनों में प्रतीयमान हो रहा है, परन्तु वास्तव में इन से पृथक् है, यथार्थतया जान लेने पर मनुष्य की अविद्यारूप गांठ जो इस हृदय के स्वच्छ पट पर वासनारूप तन्तुओं से बन्धी हुई है, तुरन्त खुल जाती है, जिस के खुलते ही उस के सारे संशय और विकल्प [जो अज्ञान वा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होते हैं] विलीन हो जाते हैं, संशयों के विलीन होने पर अनादि काल से प्रवृत्त कर्मों का बन्धन भी शिथिल पड़जाता है । जैसे जला वा गला बीज अङ्कुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है ऐसे ही विज्ञानाग्नि से जिस के सङ्कल्पविकल्परूप बीज दग्ध होगये हैं, उस के लिये यह कर्मक्षेत्र कदापि फल उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥४१॥

पदार्थः-(हिरण्मये) बुद्धि और विज्ञान से प्रकाशित (परे, कोशे) आनन्दमय कोश में (विरजम्) सम्पूर्ण दोष और मलों से रहित (निष्कलम्) निरवयव (ब्रह्म) वह महान् आत्मा है (तत्) वह (शुभ्रम्) शुद्ध (ज्यो-

निषाम्) सूर्यादिकों का भी (ज्योतिः) प्रकाशक है (तद्यद्) वह जो कुछ है उस को (आत्मविदः) अध्यात्मविद्या के जानने वाले (विदुः) जानते हैं ॥९॥

भावार्थः-उक्त ब्रह्म विज्ञानमय कोश से परे आनन्दमय कोश में स्थित है अथवा धारणावती बुद्धि से प्रकाशित जीवात्मा के अधिष्ठान हृत्पुण्डरीक देश में ध्यान के द्वारा योगियों को प्राप्त होता है। वह सम्पूर्ण अविद्यादि दोषों से रहित, निरवयव, शुद्ध और सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक है उस के यथार्थस्वरूप को आत्मज्ञ ही [जिन की वृत्ति वाह्य विषयों से हट कर आत्मा के ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन में लीन होगई है] जान सक्ते हैं, अन्य सांसारिक पदार्थों के लोलुप नहीं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥ ४२ ॥

पदार्थः-(तत्र) उस आत्मज्योति में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाश करता (न, चन्द्रतारकम्) चन्द्र और तारागण भी नहीं प्रकाश करते (न, इमाः, विद्युतः, भान्ति) न ये बिजलियें चमकती हैं (अयम्, अग्निः) यह भौतिक अग्नि (कुतः) कहां प्रकाश कर सक्ता है ? (तम्, एव, भान्तम्) किन्तु उस ही स्वयंप्रकाशमान के (सर्वम्) सब (अनुभाति) पीछे से प्रकाशित होता है (तस्य) उस की (भासा) दीप्ति से (इदं, सर्वम्) यह सब (विभाति) प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

भावार्थः-पूर्व श्लोक में उस ब्रह्म को " ज्योतिषां ज्योतिः " कहा था। अब इस श्लोक में दिखलाते हैं कि वह क्योंकर ज्योतियों की ज्योति है। यह जड़ सूर्य जो सारे जगत् को प्रकाशित कर रहा है, उस ज्योति के भण्डार में अपना भौतिक प्रकाश नहीं पहुंचा सक्ता। क्योंकि यह उसी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर अनात्मवस्तुओं को प्रकाशित करता है, इस में उसी का दिया हुवा केवल इन्द्रियगोचर पदार्थों के प्रकाशित करने का सामर्थ्य है। जो वस्तु इन्द्रियों से तो क्या उन के अधिपति मन से भी ग्रहण नहीं की जा सकती उस को भला यह आधिभौतिक सूर्य किस प्रकार दिखला सक्ता है ? जब उस आत्मज्योति के दिखलाने में सूर्य ही [जो सम्पूर्ण भौतिक प्रकाशों का पुञ्ज माना जाता है] असमर्थ है, तब चन्द्र और नक्षत्र आदि [जो उसी

से प्रकाशित होते हैं] क्या प्रकाश कर सकते हैं ? जब सूर्य चन्द्र और ताराओं की जो कुछ काल तक और कुछ दूर तक प्रकाश करते हैं, यह गति है, तब विद्युत् जिस का नाम ही चपला है और जो निमेष मात्र के लिये चमक कर आप ही अदृश्य हो जाती है, तथा लौकिक अग्नि जो बहुत थोड़ी दूर तक सो भी काष्ठ या तैल आदि पदार्थों के सहारे से टिमटिमाता है, इन की तो कथा ही क्या कहनी है । निदान उसी के प्रकाश से ये सब सूर्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं, प्रलय में यह जब इन से प्रकाश का संहरण कर लेता है, तब यह सारा जगत् अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है, अतएव वही इन सब का उत्पादक और वही प्रकाशक भी है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षि-
णतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ ॥ ४३ ॥

पदार्थः-(इदम्, अमृतम्) यह अमृतरूप (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही है (पुरस्ताद्, ब्रह्म) आगे ब्रह्म है (पश्चात्, ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बायें (अधः) नीचे (च) और (ऊर्ध्वम्) ऊपर भी (प्रसृतम्) फैला हुवा ब्रह्म ही है (इदं, विश्वम्) यह सब (इदं,-वरिष्ठम्) यह अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्मएव) ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

भावार्थः—अब इस श्लोक में इस प्रकरण का उपसंहार करते हुवे आचार्य ब्रह्म की व्यापकता को दर्शाते हैं—आत्मतत्त्व के जिज्ञासु अपने आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर और नीचे सब ओर ब्रह्म को ही फैला हुवा देखते हैं अर्थात् प्रत्येक देश, काल और वस्तु में वे उस वरणीय ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं, उनकी दृष्टि में यह सारा जगत् ही ब्रह्ममय प्रतीत होता है, वे इस अनित्य जगत् में रहते हुवे भी इस के कल्पित स्वरूप और कृत्रिम सौन्दर्य पर मोहित न होते हुवे सर्वदा उस नित्य ब्रह्म की अन्वेषणा और गवेषणा में तत्पर रहते हैं, ऐसे आत्मवित् ही इस संसार के बन्धनों से मुक्त होकर उस अमृतधाम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जिस को पाकर फिर कोई प्राप्तव्य अर्थ शेष नहीं रहता ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

समाप्तं मुण्डकं चैतत् ॥

अथ तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति ॥ १ ॥ ४४ ॥

पदार्थः-(सयुजा) एक साथ रहने वाले (सखाया) परस्पर मित्र के समान वर्त्तने वाले (द्वा, सुपर्णा) दो पक्षी (समानं, वृक्षम्) एक ही शरीररूप वृक्ष को (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक जीवात्मा (पिप्पलम्) कर्मजन्य फल को (स्वादु, अत्ति) अनेक प्रकार से भोग करता है (अन्यः) दूसरा परमात्मा (अनश्नन्) न भोगता हुआ (अभिचाकशीति) देखता है ॥ १ ॥

भावार्थः--पराविद्या जिस से वह अक्षर पुरुष जाना जाता है, वर्णन की गई और ब्रह्म के दर्शन का उपाय भी धनुष् आदि के दृष्टान्त से निरूपित किया गया । अब उस के सहकारी सत्यादि साधनों के वर्णन की इच्छा से तृतीय मुण्डक का प्रारम्भ किया जाता है । उसके आदि में पक्षी के अलङ्कार से दोनों आत्माओं [जीवात्मा और परमात्मा] का उपदेश किया जाता है । इस शरीररूप वृक्ष में दो पक्षी [जीव और ईश्वर] निवास करते हैं. एक उन में से [जीव] अपने किये हुवे कर्मों का फल भोगता है । दूसरा [ईश्वर] स्वयं कर्म और उसके फल से पृथक् रहता हुआ जीव को कर्मफल भुगाता है । इस श्रुति में " सुपर्णा " 'सयुजा' 'सखाया' ये तीन विशेषण दोनों पक्षियों के दिये गये हैं, दृष्टान्तमें पक्षियों का शोभनपर्ण होना तथा एक साथ मिलकर रहना एवं समानख्याति होना अर्थात् पक्षि शब्द से निर्देश किया जाना प्रसिद्ध है, अब दार्ष्टान्त में इनकी सङ्गति मिलानी चाहिये । नियम्य और नियामक शक्ति ही जीव और ईश्वर के पङ्ख हैं, जैसे पक्षी दोनों परों से उड़ता है एक से नहीं, ऐसे ही इन दोनों शक्तियों के योग से जीवात्मा और परमात्मा अपने २ कर्तृत्व सामर्थ्य को चरितार्थ करते हैं । उपदृष्टान्त के लिये राजा और प्रजा को लेलीजिये । यदि राजा न हो तो प्रजा किस के शासन में चले और प्रजा के अभाव में राजा किस पर अपना शासन

करें ? दूसरा विशेषण "सयुजा" [एक साथ मिलकर रहने वाले] है । जैसे दो पक्षी आपस में मिलकर रहते हैं ऐसे ही व्याप्य और व्यापक होने से जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों सदा मिले हुवे हैं, कभी इन में विश्लेष नहीं होता । तीसरा विशेषण "सखाया" [समानख्याति वाले] है । जैसे दोनों पक्षी किन्हीं २ अंशों में वैधर्म्य रखते हुवे भी एक ही पक्षी नाम से प्रख्यात हैं । ऐसे ही जीव और ईश्वर भिन्न २ गुण और स्वभाव रखते हुवे भी एक ही आत्मशब्द से निर्देश किये जाते हैं । अब रहा वृक्ष जिस में कि उक्त दोनों पक्षी निवास करते हैं सो वह शरीर है क्योंकि ['व्रश्चू' छेदने और 'शॄ' हिंसायाम्] इन दोनों धातुओं के समानार्थक होने से इन के अर्थ में भी सगता है । एवं कठोपनिषद् में वृक्ष के ही अलङ्कार से शरीर का वर्णन भी किया गया है । यथा—ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" ऊपर को शिररूप जिस की जड़ है और नीचे को हस्तपादादिरूप जिस की शाखायें हैं, ऐसा यह प्रवाह से अनादि शरीररूप वृक्ष है, इस में जीवेश्वररूप उक्त दोनों पक्षी निवास करते हैं । इन में से एक अर्थात् जीवात्मा अनादि काल से प्रवृत्त कर्मपाश में बद्ध होने से अपने शुभाऽशुभ कर्मों के फल को यथावत् भोगता है, दूसरा परमात्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव होने से कर्म और उस के विपाक से सर्वदा निर्लेप रहता है किन्तु वह अपनी सर्वज्ञता से जीवात्मा के कर्मों को देखता हुआ अपने अखण्ड न्याय को चरितार्थ करने के लिये उसको उन का फल भुगाता है ॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति
मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥ (४५)

पदार्थः-(समाने—वृक्षे) प्रवाह से अनादि इस शरीररूप वृक्ष में (पुरुषः) भोक्ता जीवात्मा (निमग्नः) डूबा हुवा (अनीशया) असमर्थता से (मुह्य-मानः) मोह को प्राप्त हुवा (शोचति) शोक करता है (यदा) जब (जुष्टम्) अनेक साधन और कर्मों से सेवित (अन्यम्, ईशम्) भोजयिता दूसरे ईश्वर को (इति) और (अस्य) इस की (महिमानम्) महिमा को (पश्यति) देखता है, तब (वीतशोकः) शोक से मुक्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थः–अब उन दोनों पक्षियोंमेंसे पहिला पक्षी भोक्तारूप जीवात्मा शरीररूप वृक्ष में निमग्न (आसक्त) अर्थात् शरीर में ही आत्मबुद्धि रखता हुआ, यह मेरा शरीर है, मैं अमुक का पुत्र हूं, दुबला हूं, मोटा हूं, गुणी हूं, निर्गुण हूं सुखी हूं, दुःखी हूं, इत्यादि विश्वास रखता हुआ असमर्थता से दीनभाव को प्राप्त होता है। पुत्र मेरा नष्ट हो गया, भार्या मेरी मर गई, धन मेरा जाता रहा और मैं कुछ न कर सका, अब मुझे इस जीवन से क्या करना है। इत्यादि अनेक प्रकार की दीनता से मोह [मिथ्याज्ञान] में पड़ा हुवा संतप्त होता है। यह दशा इस की तब तक रहती है जब तक यह उस अपने नियामक दूसरे पक्षी को [जो कार्य कारणरूप जगत् में रहता हुआ भी उस के गुणों से सर्वदा पृथक् है] नहीं जानता और उस की विभूति को जो सर्वत्र फैली हुई है, अपने ज्ञाननेत्रों से नहीं देखता। जब यह अनेक जन्मों के पुरुषार्थ और अनेक साधनों से सम्पन्न होकर उस सर्वशक्तिमान् और प्रकाशमान पुरुष का [जिस में मोह, शोक और दैन्य का सर्वथा अभाव है] आश्रय लेता है और सर्वत्र उस की महिमा का अवलोकन करता है, तब यह भी अपने स्वरूप को जानकर संसार में रहता हुवा भी उसके हर्ष शोक में लिप्त नहीं होता। इस श्रुति में " जुष्टम् " और " अन्यम् " ये दो पद स्पष्टरूप से द्वैतवाद को सिद्ध करते हैं ॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥ (४६)

पदार्थः–(यदा) जब (पश्यः) देखने वाला (रुक्मवर्णम्) प्रकाशमान (कर्त्तारम्) विश्व के कर्त्ता (ईशम्) सर्वशक्तिसम्पन्न (ब्रह्मयोनिम्) जगत् वा वेद के कारण (पुरुषम्) पुरुष को (पश्यते) देखता है (तदा) तब (विद्वान्) वह सदसत् का ज्ञाता (पुण्यपापे) पुण्य और पाप को (विधूय) हटाकर (निरञ्जनः) निर्लेप हुवा (परमं, साम्यम्) अत्यन्त समता को (उपैति) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—फिर उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं—जब यह देखने वाला जीवात्मा बाह्यदृष्टि से जगत् और उस के पदार्थों को देखता हुवा भी

अन्तर्दृष्टि में केवल उस ज्योतिर्मय पुरुष को [जो इस विविध जगत् का उत्पादक, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति इन दोनों का अधिष्ठाता है] देखता है, तब वह बन्धन के कारण शुभाऽशुभ कर्म और उन के फल की वासना से मुक्त होकर स्वाभाविक कर्म करता हुआ भी उन के फल में आसक्त नहीं होता क्योंकि कर्म वही बन्धन का हेतु होता है, जो फल की आशा से किया जाता है। यद्यपि कर्म का फल अवश्यम्भावी है, कोई इच्छा करे या न करे वह अवश्य होकर रहेगा तथापि उस के बन्धन में वही पड़ता है, जो उस की इच्छा करता है और जो अपना कर्त्तव्य समझकर बिना किसी प्रत्याशा के कर्म करता है, वह कर्म उस की स्वाधीनता का अवरोधक नहीं होता, प्रत्युत सहायक होता है। केवल यही मार्ग उस परमपुरुष की (जो सदा कर्मचक्र और उस के बन्धन से मुक्त है) समता या समीपता प्राप्त करने का है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥ (४७)

पदार्थः—(हि) निश्चय (एषः) यह (प्राणः) सर्वगत होने से प्राण है (यः) जो (सर्वभूतैः) ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सब चराचर भूतों से (विभाति) प्रकाशमान है (विजानन्) इस को जानता हुवा (विद्वान्) सदसद्विवेकी पुरुष (अतिवादी) अतिक्रमण करके कहने वाला (न, भवते) नहीं होता (एषः) यह (आत्मक्रीडः) आत्मा में ही क्रीडा करने वाला [न कि बाह्यपदार्थों में] (आत्मरतिः) आत्मा में ही प्रीति रखने वाला [न कि स्त्री पुत्रादिकों में] (क्रियावान्) ज्ञान, ध्यान और वैराग्य आदि क्रिया से सम्पन्न (ब्रह्मविदाम्) ब्रह्म के जानने वालों में (वरिष्ठः) श्रेष्ठ है ॥४॥

भावार्थः—फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सारे चराचर भूत जिस की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं और जो सब का जीवनाधार होने से प्राण का भी प्राण है, उस ब्रह्म को जानता हुवा विद्वान् अतिवादी नहीं होता। जब वह सब पदार्थों में केवल उस आत्मा को ही अधिष्ठित देखता है, सिवाय उस के अन्य पदार्थों को देखता हुवा भी नहीं देखता और सुनता हुवा भी नहीं सुनता, तब किसी का किसी

के अतिक्रमण करके कहना बन ही नहीं सकता क्योंकि अनेक पदार्थों के ध्यान और चिन्तन में लगा हुवा पुरुष ही एक का अतिक्रमण करके दूसरे का परिक्रमण करता है और जो केवल आत्मक्रीड और आत्मरति है, वह किस का अतिक्रमण और किस का उपसर्पण करे ? बस जो कभी न बिगड़ने वाले आश्चर्यमय केवल आत्मा के खिलौने से ही क्रीड़ा करता है, न कि ज़रा सी ठेस में टूट जाने वाले भौतिक विकारों से, एवं जो सदा रहने वाले एक आत्मा को ही अपनी सच्ची प्रीति का पात्र बनाता है, न कि क्षणभर में बिछड़ जाने वाले स्त्री पुत्र और अपने देह आदि को, वह ज्ञान ध्यान और वैराग्य आदि परमार्थ की क्रियाओं से सम्पन्न होकर ब्रह्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ४ ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषआत्मा सम्यग् ज्ञानेन
ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयोहि
शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥ ४८ ॥

पदार्थः-(अन्तः शरीरे) शरीर के भीतर (ज्योतिर्मयः) स्वयंप्रकाशमान (शुभ्रः) शुद्ध (एषः, आत्मा) यह आत्मा (हि) निश्चय (सत्येन) मन, वचन और कर्म की अभिन्नता से (तपसा) इन्द्रिय और मन की एकाग्रता से (सम्यग्, ज्ञानेन) यथार्थ ज्ञान से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के पालन करने से (नित्यम्) सर्वदा (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है । (यम्) जिस को (क्षीणदोषाः, यतयः) जिन के अविद्यादि दोष नष्ट होगये हैं ऐसे यत्नशील योगी (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब आत्मप्राप्ति के साधनों का वर्णन करते हैं-यह आत्मा [जो इस शरीर के भीतर ही प्रकाशमान होरहा है] सत्य के यथार्थ सेवन से प्राप्त होता है अर्थात् उस की प्राप्ति का सब से उत्तम साधन सत्य [मन, वाणी और कर्म की अभिन्नता है] जिन्हों ने मन, वचन और कर्म की एकता सम्पादन नहीं की है, उपायशत से भी उस सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकते, अतएव ब्रह्म के जिज्ञासु को सब से पहिले सत्य का व्रत धारण करना चाहिये । दूसरा साधन उस की प्राप्ति का तप है, तप से यहां मन और इन्द्रियों की एकाग्रता अभिप्रेत है । क्योंकि शरीर के जो [आत्मा

का अधिष्ठान है] सुखा देने से वा निकम्मा बनादेने से कोई इस के अधिष्ठाता को नहीं पासकता । वास्तव में ऐसे लोग परमार्थ तो क्या संसार से भी हाथ धो बैठते हैं, किन्तु जो लोग इस शरीर को धर्मार्थकाममोक्ष का साधन समझते हुवे इस की रक्षापूर्वक अपने मन और इन्द्रियों का निग्रह करते हैं अर्थात् उन की वृत्ति को विषयों की ओर जाने से रोक कर केवल आत्मा में नियुक्त कर देते हैं, वेही सच्चे तपस्वी और ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी हैं । तीसरा साधन ब्रह्मप्राप्ति का यथार्थज्ञान है । जब तक मनुष्य मिथ्याज्ञान (अविद्या) के आवर्त में पड़ा हुवा है तब तक उस को क्षण भर के लिये भी शान्ति (स्थिरता) नहीं मिल सकती, वह रातदिन अनित्य अपवित्र और दुःखमय पदार्थों से स्थिरता, पवित्रता और सुख की आशा करता है, जब पूरी नहीं होती [हो कहां से, भला कहीं बालू में से भी तेल निकल सकता है] तब अधीर होकर चिल्लाने लगता है । जब इस को यथार्थ ज्ञान होता है अर्थात् यह जान लेता है कि केवल एक आत्मा ही नित्य, पवित्र, सत्य और सुख का एकमात्र अधिष्ठान है और शेष जो कुछ है वह सब एक इन्द्रजाल का गोरखधन्धा है तब इस को सच्ची शान्ति और निराबाध सुख प्राप्त होता है । चौथा साधन ब्रह्मचर्य है, जिस के बिना न तो मनुष्य का शरीर ही विहित कर्मों के अनुष्ठान करने में समर्थ हो सकता है और न आत्मा ही विज्ञान के महाबल से बलिष्ठ होकर इस अविद्यारूप माया के जाल को छिन्न भिन्न कर सकता है । बस जो अधिकारी उक्त साधनों से यथाकाल सम्पन्न होकर ब्रह्मप्राप्ति के लिये यत्न करते हैं वे ही उस आनन्दायतन को पाकर संसार के शोक मोह से मुक्त होते हैं न कि साधनहीन और विषयलम्पट ॥ ५ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥ ४९ ॥

पदार्थः-(सत्यम्, एव) सत्य ही (जयते) विजय को प्राप्त होता है (न, अनृतम्) झूठ नहीं (सत्येन) सत्य ही से (देवयानः, पन्थाः) देवयानरूपी मार्ग (विततः) फैला हुआ है (येन) जिस मार्ग से (आप्तकामाः)

तृष्णारहित (ऋषयः) ऋषि लोग (हि) निश्चय (आक्रमन्ति) गमन करते हैं (यत्र) जहां पर (तत्) वह (सत्यस्य, परमं, निधानम्) सत्य का परम अधिष्ठान ब्रह्म है ॥ ६ ॥

भावार्थः-पूर्व श्लोक में सत्य को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कहा था अब उस का माहात्म्य और प्रभाव दिखलाते हैं-सत्य के धारण करने से मनुष्य का आत्मा जैसा बलवान् होता है वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं, सत्यवादी का चाहे किसी कारण विशेष से दूसरे लोग विश्वास न करें परन्तु उस का अपना विश्वास तो ध्रुव के समान निश्चल है जिस के कारण उस का आत्मा सदा निर्भय व निश्शङ्क रहता है " सत्ये नास्ति भयं क्वचित्" अप्रियभाषण से जैसे दूसरों में उद्वेग उत्पन्न होता है ऐसे ही अनृतभाषण से अपने आत्मा और मन आदि उस के सहचरों में खलबली मचजाती है, जिस के कारण अनृतवादी अपने सहायकों के होते हुवे भी कभी सुख की नींद नहीं सो सकता, वह स्वप्न भी यही देखता है कि मेरी पोल खुलगई और मैं मारा गया । इस लिये केवल सत्य के अवलम्ब से मनुष्य संसार और परमार्थ दोनों में विजयलाभ कर सकता है । सत्य के ही आचरण से देवयान [उत्तम पुरुषों का मार्ग] विस्तृत और प्रकाशित होता है, जिस मार्ग से सत्यसंकल्प, सत्यवाक् और सत्यकर्मा ऋषिलोग निरन्तर बिना किसी प्रतिबन्ध के गमन करते हैं, और बहुत कहने से क्या जो इस समस्त चराचर जगत् का आदि कारण है और जिस की प्राप्ति से मनुष्य को अमर जीवन प्राप्त होता है, वह सब का जीवनाधार ब्रह्म भी इसी सत्य में प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्म-
तरं विभाति । दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥ ५० ॥

पदार्थः-(तद्) वह ब्रह्म (बृहत्) महान् है (च) और (दिव्यम्) अलौकिक और अतीन्द्रिय है (अचिन्त्यरूपम्) उस की सत्ता और विभूति की कोई अवधारणा नहीं कर सकता कि वह ऐसी और इतनी है (तद्) वह (सूक्ष्मात्, च) आकाशादि सूक्ष्म पदार्थों से भी (सूक्ष्मतरम्) अत्यन्त सूक्ष्म (विभाति) प्रकाशमान है (तद्) वह (दूरात्) दूर से (सुदूरे)

अत्यन्त दूर है (इह, अन्तिके, च) और समीप इतना कि इस शरीर में ही वर्त्तमान है (पश्यत्सु) ज्ञानचक्षु से देखने वालों के लिये (इह, गुहायाम्, एव) इस बुद्धि में ही (निहितम्) स्थित है ॥ ७ ॥

भावार्थः–फिर उसी ब्रह्म का निरूपण करते हैं–वह ब्रह्म महान् होने से दिव्य (अलौकिक) है अर्थात् लोक में उस की कोई उपमा नहीं मिल सकती तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म होने से अचिन्त्यरूप (अतीन्द्रिय) है अर्थात् कोई इन्द्रिय उस का ग्रहण नहीं कर सकता, यहां तक कि मन और बुद्धि भी जो बाल की खाल निकालते हैं, उस की थाह नहीं पासकते । वही सम्पूर्ण आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों का केन्द्र है, उस से केवल भौतिक सूर्यादि ही (जो इन भौतिक नेत्रों को प्रकाश पहुंचाते हैं) प्रकाशित नहीं होते, किन्तु यह विज्ञान का दिव्य प्रकाश भी जो अस्मदादि के बुद्धिरूप नेत्रों को प्रकाशित कर रहा है, उसी ज्योतिःपुञ्ज से निकला है । वह विभु होने से यद्यपि सर्वत्र ही विद्यमान है तथापि जो उस से विमुख हैं अर्थात् नहीं जानते कि वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? उन से वह बहुत दूर है । जिस वस्तु का जिसे ज्ञान नहीं वह उस के पास होती हुई भी उस से दूर होजाती है । इसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष सामान्यरूप से सर्वत्र और विशेष रूपसे अपनी बुद्धि में ही उस परम पुरुष को अवस्थित देखते हैं और सर्वदा उसी के श्रवण मनन और निदिध्यासन में तत्पर रहते हैं उन से वह अत्यन्त ही समीप है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा
कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥ ५० ॥

पदार्थः–वह ब्रह्म (चक्षुषा, न, गृह्यते) आंख से नहीं ग्रहण किया जाता (न, अपि, वाचा) वाणी से भी नहीं (न, अन्यैः, देवैः) न अन्य इन्द्रियों से (न, तपसा) न चान्द्रायणादि कृच्छ्र तप से (न, कर्मणा, वा) और न फल की वासना से किये हुवे शुभकर्मों से प्राप्त होता है । किन्तु (ज्ञानप्रसादेन) यथार्थज्ञान के प्रसाद से (विशुद्धसत्वः) शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर (ततः) तब (ध्यायमानः) ध्यान करता हुवा (तं, निष्कलम्) उस निरवयव ब्रह्म को (पश्यते) देखता है ॥ ८ ॥

भावार्थः-पुनः प्रसङ्गप्राप्त ब्रह्मप्राप्ति का साधन कहते हैं। साध्य के अनुरूप ही उस की उपलब्धि के साधन भी हुवा करते हैं। जिन वस्तुओं का कुछ आकार वा परिमाण होता है, उन को हम नेत्रों से ग्रहण करते हैं परन्तु अप्रमेय वस्तु को [जिस का न तो कोई वर्ण है और न परिमाण] हम इन चर्ममय नेत्रों से कैसे देख सकते हैं ? इसी प्रकार निर्वचनीय वस्तु का वाणी से निर्वचन हो सक्ता है, पर जो सर्वथा अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है, जिस के विषय में बड़े २ ऋषि महर्षि भी " नेति, नेति " कहकर अपने अपर्याप्त निर्वचन को समाप्त करगये हैं. उस को भला अस्मदादि की तुच्छ वाणी किस प्रकार प्रकट कर सकती है ? जब ज्ञानेन्द्रियों में प्रधान चक्षु और कर्मेन्द्रियों में मुख्य वाणी की यह दशा है, तब अन्य इन्द्रियों की तो कथा ही क्या है ? केवल तप से अर्थात् इन्द्रिय और शरीर के शोषण से भी कोई उस ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि अपने २ अर्थ को ग्रहण करना इन्द्रियों का स्वभाव है, अर्थ ग्रहण करने मात्र से कोई मनुष्य पापी नहीं हो सकता, पापी होता है दुर्वासना और कुटिलभाव से, जो कि मन में उत्पन्न होते हैं। अतएव ब्रह्मप्राप्ति के लिये प्रथम मन का निग्रह करना चाहिये, न कि शरीर वा इन्द्रियों का शोषण। क्योंकि मन का निग्रह होने से मनुष्य इन्द्रियों से अर्थों को ग्रहण करता हुवा भी उन में आसक्त नहीं होता और विना मनोनिग्रह के इन्द्रियों को स्तब्ध करके भी रात दिन विषयों का ध्यान और चिन्तन करता है। भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में अर्जुन से कहा है:— "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते" अर्थात् जो इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक कर मन से उन के अर्थों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी (प्रतारक) है। अतएव केवल तप से कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार केवल कर्म से भी [जब तक हृदय में ज्ञान का प्रकाश न हो] कोई सिद्धि का भागी नहीं हो सकता, हां विधिपूर्वक कर्म के अनुष्ठान से स्वर्गादि की प्राप्ति अवश्य होती है। जब इन्द्रियगण ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकते, न तप और कर्म ही उस की प्राप्ति के साधन हो सकते हैं तो फिर वह कौनसा साधन है कि जिस के द्वारा यह मनुष्य इस आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है ? इस का उत्तर देते हुवे अङ्गिरा ऋषि शौनक

से कहते हैं—कि केवल तत्त्वज्ञान के प्रसाद से जब मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है अर्थात् उस के हृदय से अविद्या का आवरण [जिस के कारण वह अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और जड़ को चेतन समझता है] फट जाता है, तब ध्यान [मन की वृत्तियों के एकाग्र होने] से मुमुक्षु को उस निष्कल ब्रह्म के दर्शन होते हैं ॥ ८ ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः
पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येषआत्मा ॥ ९ ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(यस्मिन्) जिस शरीर में (प्राणः) प्राणवायु (पञ्चधा) प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान इन पांच भेदों से (संविवेश) प्रविष्ट हो रहा है, उसी शरीर में (एषः) यह (अणुः) सूक्ष्म (आत्मा) ब्रह्म (चेतसा) विज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है । (प्राणैः) प्राण और इन्द्रियों के साथ (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वं, चित्तम्) सब अन्तःकरण (ओतम्) व्याप्त है (यस्मिन्) जिस चित्त के (विशुद्धे) विशेषरूप से शुद्ध होने पर (एषः, आत्मा) यह आत्मा (विभवति) प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं । वह सूक्ष्म आत्मा इस शरीर में ही [जिस में प्राण अपने पांच भेदों से विचरता है] शुद्ध चित्त से जो विज्ञान के प्रभाव से सम्पन्न होता है, जानने के योग्य है अर्थात् उस के विशुद्ध स्वरूप का दर्शन बाह्य पदार्थों में बहिरङ्ग साधनों से कोई नहीं कर सकता, किन्तु अपने हृदय के भीतर ही चित्त रूप अन्तरङ्ग साधन के द्वारा [जिस में समस्त प्राण और इन्द्रियों की शक्ति दुग्ध में स्नेह और काष्ठ में अग्नि के समान व्याप्त हो रही है और जो चित् शक्ति का प्रवर्त्तक होने से चेतन आत्मा का सहकारी साधन माना जाता है] उस की प्राप्ति हो सकती है । परन्तु यह अवश्य है कि वह चित्त मल, विक्षेप और आवरण से दूषित न हो, अन्यथा जैसे कोई मलिन आदर्श में अपना रूप नहीं देख सकता ऐसे ही मलिन चित्त में आत्मा भी भासित नहीं होता । इसी लिये श्रुति में कहा गया है कि चित्त के विशुद्ध होने पर ही उस में आत्मा प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामां-स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥ ५३ ॥

पदार्थः-(विशुद्धसत्वः) निर्मल अन्तःकरण वाला (यं, यं, लोकम्) जिस२ लोक को (मनसा) मन से (संविभाति) चिन्तन करता है (च) और (यान्, कामान्) जिन भोगों को (कामयते) चाहता है (तं, तं, लोकम्) उस २ लोक को (च) और (तान्, कामान्) उन भोगों को (जायते) प्राप्त होता है (तस्मात्) इस लिये (हि) निश्चय (भूतिकामः) सिद्धि को चाहने वाला (आत्मज्ञम्) ब्रह्मवित् को (अर्चयेत्) पूजा करे ॥ १० ॥

भावार्थः—अब इस खण्ड का उपसंहार करते हुवे आचार्य ब्रह्मज्ञान का फल निरूपण करते हैं। विज्ञान के प्रसाद से जिस का अन्तःकरण निर्मल हो गया है अर्थात् जिसने तत्वज्ञान के प्रसाद से ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को जान लिया है, ऐसा विवेकी पुरुष जिस २ लोक वा भोग की इच्छा करता है उस २ लोक वा भोग को सङ्कल्पमात्र से वह प्राप्त होता है क्योंकि सत्यकाम होने से उस का सङ्कल्प वृथा नहीं होता। यहां पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब तत्वज्ञान के प्रताप से मनुष्य के सारे बन्धन टूट जाते हैं और कर्म-ग्रन्थि भी जो जन्म और भोग का कारण है, शिथिल हो जाती है फिर उस का लोक वा भोगों के बन्धन में पड़ना कैसा ? इस का समाधान यह है कि वह अस्मदादि के समान कर्मबन्धन में बद्ध होकर जन्म और भोग का भागी नहीं होता, किन्तु स्वेच्छाचारी होने से यदि संसार में जन्म लेने या भोगों के भोगने की इच्छा करे तो अपने सङ्कल्पमात्र से ऐसा कर सकता है, क्योंकि वह अमोघसङ्कल्प होने से जिस बात की इच्छा करता है, वह वृथा नहीं जा सकती। श्रेयोऽभिलाषियों को उचित है कि ऐसे तत्वज्ञानियों का सर्वदा पूजन व सत्कार करें। यद्यपि उन को इस की अपेक्षा नहीं, तथापि हम को अपने कल्याण के लिये उन की नित्य पूजा करनी चाहिये क्योंकि आत्मज्ञानी साक्षात् देव स्वरूप होता है ॥ १० ॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

—*—

अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं
भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते
शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥ ५४ ॥

पदार्थः-(सः) वह आत्मज्ञ (एतत्, परमं, धाम, ब्रह्म) इस सब के परम आश्रय ब्रह्म को (वेद) जानता है (यत्र) जिस में (विश्वम्) समस्त ब्रह्माण्ड (निहितम्) स्थित है और जो ब्रह्म (शुभ्रम्) शुद्ध (भाति) अपनी ज्योति से प्रकाशित है (हि) निस्सन्देह (ये, अकामाः) जो कामनारहित (पुरुषम्) उस परमात्मा की (उपासते) पूजा वा सेवा करते हैं (ते, धीराः) वे धीरजन (एतत्, शुक्रम्) शरीर के उपादान इस वीर्य को (अतिवर्त्तन्ति) उल्लङ्घन कर जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-वह आत्मज्ञ, जो प्रत्येक देश, काल और वस्तु में उस आत्मा के ही महान् ऐश्वर्य को अनुभव करता है और उस के शुद्धस्वरूप को (जो समस्त विश्व और उस की चराचर सृष्टि की स्थिति का कारण है) ज्ञानचक्षु से प्रेम के प्रकाश में अपने हृदय के भीतर ही देखता है। बाह्यपदार्थ यद्यपि आत्मदर्शन में सहायक होते हैं, तथापि आत्मा का अधिकरण मनुष्य का अपना अन्तःकरण ही है, जहां उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार जो मुमुक्षुगण तीनों एषणाओं को त्याग कर आत्मदर्शन की योग्यता सम्पादन करते हैं, वे समस्त शारीरिक और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आवागमन के चक्र को भी उल्लङ्घन कर जाते हैं ॥ १ ॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते
तत्र तत्र । पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे
प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥ ५५ ॥

पदार्थः-(यः) जो मनुष्य (कामान्) दृष्टादृष्ट इष्ट विषयों को (मन्यमानः) मन में उन की वासना रखता हुवा (कामयते) चाहता है (सः) वह (कामभिः) उन कामनाओं के साथ जहां२ वे खींचकर इस को लेजाती

हैं (तत्र-तत्र) वहां २ (जायते) उत्पन्न होता है। परन्तु (पर्याप्तकामस्य) जिन की परमार्थतत्त्व के जान लेने से सारी कामनायें पूर्ण हो गई हैं (कृतात्मनः) जिस ने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्ववित् पुरुष की (सर्वे, कामाः) सारी कामानायें (इह, एव) इस शरीर में ही (प्रविलीयन्ति) लीन होजाती हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—काम का त्याग ही मोक्ष का प्रधान साधन है। अब यह दिखलाते हैं—काम के दो भेद हैं, एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। जिन का फल यहीं पर दीखता है वे दृष्ट, जैसे कि स्त्री, पुत्र और धन आदि। जिन का फल यहां पर नहीं दीखता किन्तु परलोक वा परजन्म में होने वाला है, वे अदृष्ट हैं, जैसे कि यज्ञ, दान और व्रत आदि। इन दोनों प्रकार के कामों की मन में वासना रखता हुवा मनुष्य जिस २ काम की जहां २ पर इच्छा करता है उस २ की कामना से खिंचा हुवा वहां २ पर जन्म लेता है और उन कामतन्तु में बन्धा हुवा बारम्बार जन्ममरण के चक्र में घूमता रहता है, कभी इस को शान्ति या विश्राम नहीं मिलता। हां, जब तत्त्वज्ञान के प्रसाद से इस को आत्मा का यथार्थ स्वरूप विदित होता है, तब इस के सारे काम जो आत्मा को न जानने से वा शरीर को ही आत्मा मानने से उत्पन्न होते हैं, इस शरीर में ही विलीन होजाते हैं, तब यह आप्तकाम कहलाता है और इस शरीर के होते हुवे ही जीवन्मुक्त की पदवी पाता है ॥ २ ॥

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न
बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्त-
स्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(अयम्, आत्मा) यह आत्मा (प्रवचनेन) केवल वेदादि शास्त्रों के पढ़ने से (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (न, मेधया) न बुद्धि से (न, बहुना, श्रुतेन) न बहुत से शास्त्रों के सुनने से प्राप्त होता है किन्तु (यम्, एव) जिस पुरुष को ही (एषः) यह आत्मा (वृणुते) स्वीकार करता है (तेन) उस पुरुष से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (तस्य) उस ध्यानशील के लिये (एषः, आत्मा) यह आत्मा (स्वाम्, तनूम्) अपने सूक्ष्म स्वरूप को (वृणुते) प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः- अब पुनः ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय कहते हैं। आत्मतत्त्व को न जानकर केवल प्रवचन (वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन) से कोई ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सका। ऋग्वेद की श्रुति भी कहती है-" यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति"="जो उस को नहीं जानता वह वेद की ऋचा से क्या करेगा" इसी प्रकार विना भाव की शुद्धि के बुद्धि की पटुता से भी कोई उसे नहीं पासकता और विना मनन और निदिध्यासन के केवल श्रवण मात्र से भी कोई उस का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उक्त प्रवचनादि ब्रह्मप्राप्ति के बहिरङ्ग साधन तो हो सकते हैं, अन्तरङ्ग नहीं। तो फिर उस की प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन क्या है? श्लोक के उत्तरार्द्ध में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है- अर्थात् उस आत्मा का प्रेमपात्र वही मनुष्य हो सकता है जिस को वह आत्मा अनन्यभाव से स्वीकार करता है। उसी के लिये आत्मा अपने स्वरूप और रहस्य को प्रकाशित कर देता है। अब यह प्रश्न रह जाता है कि आत्मा किस को स्वीकार करता है? इस का उत्तर यद्यपि स्पष्टरूप से श्रुति में नहीं है, तथापि गुप्तरीति से इन शब्दों के कि "जिस को यह स्वीकार करता है" अभ्यन्तर वर्त्तमान है। आत्मा उसी को स्वीकार करता है कि जिस के हृदय में उस का सच्चा प्रेम है। जिस प्रकार एक सेवक जो चतुर और बुद्धिमान् तो हो, परन्तु वह अपने स्वामी का हितचिन्तक न हो और न उस की आज्ञा और रुचि पर ध्यान देता हो तो क्या ऐसा सेवक अपने स्वामी या अध्यक्ष का प्रीतिपात्र हो सकता है? कदापि नहीं। किन्तु जो सेवक अपने स्वामी का सच्चा भक्त है और उस की आज्ञापालन में तन मन से उद्यत है, वह चाहे इतना योग्य और चतुर न भी हो तो भी अपने स्वामी का सच्चा प्रेमपात्र होता है। इसी प्रकार मनुष्य केवल अपनी चतुरता से उस अपने सच्चे स्वामी को प्रसन्न नहीं कर सकता, जब तक कि उस के हृदय में सच्चा प्रेम उस का न हो। बस जिस के हृदय में सच्चा प्रेम है, उसी को आत्मा अपनी सेवा के लिये स्वीकार करता है और उस के हाथ में अपने ऐश्वर्य भण्डार की कुञ्जी सौंप देता है ॥ ३ ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादा-
त्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु

विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥५७॥

पदार्थः—(अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (बलहीनेन) आत्मिक बल-हीन से (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होने योग्य है (च) और (प्रमादात्) विषयसङ्गजनित प्रमाद से (वा) तथा (अलिङ्गात्, तपसः, अपि) वैराग्य रहित ज्ञान से भी (न, लभ्यः) नहीं प्राप्त होता (एतैः, उपायैः) आत्मिक बल, चित्त के समाधान और वैराग्यसहित ज्ञान; इन उपायों से (यः, विद्वान्) जो विवेकी पुरुष (यतते) प्रवृत्त होता है (तस्य) उस का (एषः, आत्मा) यह आत्मा (ब्रह्मधाम) ब्रह्म के सब से बड़े उच्च पद को (विशते) प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः-फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—जो पुरुष आत्मिक बल से हीन हैं अर्थात् जिन को अपनी आत्मसत्ता का भरोसा नहीं है किन्तु देहादि भौतिक विकारों को ही आत्मा समझ कर उन की वृद्धि में अपनी उन्नति और उन के क्षय में अपना नाश समझते हैं, ऐसे निर्बलात्मा उस ब्रह्म की प्राप्ति के अधिकारी नहीं हो सक्ते। एवं जो लौकिक स्त्री, पुत्र और धन आदि के मोह में प्रमत्त होरहे हैं और उन्हीं को अपने सुख का अधिष्ठान मान रहे हैं, ऐसे प्रमादी पुरुष भी उस आनन्दायतन ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकते। तथा जो संन्यासरूप लिङ्ग से रहित होकर तपस्वी या विज्ञानी होने का दम भरते हैं, वे भी उस विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्ति नहीं कर सकते। लिङ्ग शब्द से यहां पर बाह्यलिङ्ग विवक्षित नहीं है। यदि ऐसा होता तो जनक और याज्ञवल्क्यादि गृहस्थ आत्मलाभ न कर सकते। इस लिये केवल त्याग ही संन्यास का आभ्यन्तर लिङ्ग है, उस से रहित होकर जो ज्ञानी या तपस्वी बने फिरते हैं, वे न तो संन्यासी हैं और न ब्रह्मप्राप्ति के अधिकारी ही हो सकते हैं। तो फिर ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के उत्तरार्द्ध में आचार्य देते हैं—जो विद्वान् आत्मिक बल, चित्त की समाधि और त्यागयुक्त विज्ञान इन तीन उपायों से आत्म-लाभ के लिये यत्न करता है, उस का आत्मा उस सब से बड़े ब्रह्म के धाम में निर्विशङ्क प्रवेश करता है ॥ ४ ॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीत-

रागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥ ५८ ॥

पदार्थः-(एनम्) इस आत्मा को (ऋषयः) तत्त्वदर्शी लोग (संप्राप्य) सम्यक् प्राप्त होकर (ज्ञानतृप्ताः) उस आत्मा के ही ज्ञान से तृप्त (कृतात्मानः) आत्मा के साक्षात्कार करने वाले (वीतरागाः) रागादि दोषों से रहित (प्रशान्ताः) शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होजाते हैं (ते, धीराः) वे धीर (युक्तात्मानः) समाहितचित्त होकर (सर्वगम्) सर्वव्यापक को (सर्वतः) सब ओर से (प्राप्य) प्राप्त होकर (सर्वम्, एव) सब को ही (आविशन्ति) प्रवेश करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-ब्रह्म के पद में कैसे प्रवेश करते हैं ? अब इस का वर्णन करते हैं-ज्ञानदृष्टि से आत्मा का दर्शन करने वाले ऋषि लोग आत्मा को सम्यक् प्राप्त होकर उस के वास्तविक ज्ञान से ही तृप्त होते हैं, न कि शरीर आदि के बढ़ने वा पुष्ट होने से। उस आत्यन्तिकी तृप्ति से अपने को कृतार्थ मानते हुवे रागादि दोषों से रहित होकर शान्तचित्त हो जाते हैं अर्थात् संसार के शब्द स्पर्शादि विषय फिर उन के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। वे प्राकृत जगत् में रहते हुवे भी आत्मा ही से क्रीड़ा करते और उसी से आनन्द पाते हैं। आत्मा के विना उन की दृष्टि में इस जगत् की वही अवस्था है जो हम सांसारिक लोगों की दृष्टि में विना जीवात्मा के शरीर की होती है। ऐसे धीर और समाहितचित्त पुरुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सब ओर से प्राप्त होकर सब में ही प्रवेश करते हैं अर्थात् देहादि के बन्धन से मुक्त होकर अव्याहतगति हो सर्वत्र विचरते हैं ॥ ५ ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगा-
द्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्त-
काले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥ ५९ ॥

पदार्थः-जो (वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः) वेदान्त के विज्ञान से सुनिश्चितार्थ (संन्यासयोगात्, यतयः) वैराग्य के योग से परमार्थ के लिये यत्नशील (शुद्धसत्त्वाः) निर्मलान्तःकरण हो गये हैं (ते, सर्वे) वे सब (परान्तकाले)

देहावसान समय में (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक में [साधकों के अनेक होने से बहुवचन का प्रयोग किया गया है] (परामृताः) अमृतजीवन होकर (परिमुच्यन्ति) संसार से छूट जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः- आत्मविद् पुरुष जिस गति को प्राप्त होते हैं अब उस का वर्णन करते हैं । वेदान्त के विज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या के विचार से जिन्हों ने आत्मतत्त्व का निश्चय कर लिया है अर्थात् यह ज्ञान लिया है कि संसार में केवल आत्मा ही एक सार वस्तु है, उस के अतिरिक्त और सब असार । ऐसा निश्चय करके जो उस की ही प्राप्ति के लिये वास्तविक संन्यास (आभ्यन्तर त्याग) को धारण करके निरन्तर आत्मा के ही श्रवण, मनन और दर्शन में यत्नशील हैं, तथा विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति से जिन का हृदय स्वच्छ और अन्तःकरण निर्मल होगया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष परान्त काल में अर्थात् देहावसान के समय ब्रह्मधाम को प्राप्त होकर अमृतत्व का सेवन करते हुवे समस्त सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

गताःकलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु । कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे ऽव्यये सर्वएकीभवन्ति ॥ ७ ॥ ६० ॥

पदार्थः-(पञ्चदश कलाः) प्राणादि पन्द्रह कलायें (प्रतिष्ठाः गताः) अपने कारण में लीन हो जाती हैं (च) और (सर्वे, देवाः) सब चक्षुरादि देव (प्रतिदेवासु) अपने कारणरूप अग्नि आदि प्रतिदेवताओं में लीन हो जाते हैं (कर्माणि) मुमुक्षु के किये हुवे निष्काम कर्म (विज्ञानमयः, च, आत्मा) और चेतन जीवात्मा (परे, अव्यये) उस परम सूक्ष्म अव्यय पुरुष में (सर्वे) सब (एकीभवन्ति) एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः-ब्रह्म की प्राप्ति होने पर जीवात्मा का जो परिणाम होता है अब उस को दिखलाते हैं-उस सब से सूक्ष्म अव्यय पुरुष के प्रत्यक्ष होने पर देहादि की प्रवर्तक प्राणादि १५ कलायें [जिन का सविस्तर वर्णन प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में किया गया है] अपने २ कारण में लीन हो जाती हैं, जिस से पुनः कार्यरूप शरीर की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाती हैं । इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय भी अपने २ कारण अग्नि आदि भूतों में लीन

हो जाते हैं जिस से फिर इन्द्रियों के गोलक नहीं बन सक्ते। यद्यपि मुक्तात्मा के भौतिक शरीर और इन्द्रिय अपने कारण में लीन हो जाने से कार्यरूप में नहीं रहते, तथापि इन की सूक्ष्म शक्ति जिस से अभिमत अर्थों का ग्रहण होता है, उस में सदा विद्यमान रहती है। प्राण और इन्द्रियों के अभाव में कर्म भी नहीं रहते क्योंकि कर्म शरीर और इन्द्रियों से ही किये जाते हैं, कर्म के अभाव में जीवात्मा की कर्तृ संज्ञा नहीं बन सक्ती, अतएव उस ब्रह्म के साक्षात् होने पर यह सब कार्य करण और कर्त्ता एक ही हो जाते हैं, अर्थात् अकेला जीवात्मा ही कार्य कारण और कर्तृ भावों से पृथक् हुआ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ॥ ७ ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम-
रूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥ ६१ ॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (नद्यः) नदियें (स्यन्दमानाः) बहती हुईं (समुद्रे) समुद्र में (नामरूपे) नाम और रूप को (विहाय) छोड़ कर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त को प्राप्त होती हैं (तथा) ऐसे ही (विद्वान्) आत्मवित् (नामरूपात्) नाम और रूप से (विमुक्तः) पृथक् हुआ (परात्परम्) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म (दिव्यम्) अलौकिक (पुरुषम्) पुरुष को (उपैति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः-फिर उसी विषय को कहते हैं-जैसे नदियां बहती हुईं जब तक समुद्र में जा कर नहीं मिलतीं तब तक अपने २ नाम रूप को पृथक् २ धारण करती हैं परन्तु जब वे अपने स्वामी समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, तब न उन का पृथक् कोई नाम रहता है, न रूप, तब केवल समुद्र ही कहलाता है। इसी प्रकार जब तक हम लोग उस अगाध और अपरिमित आत्मा से नहीं मिलते, अर्थात् उस पवित्र सम्बन्ध को जो हमारा आत्मा के साथ है, नहीं समझते, तब तक हम अनेक नामरूपों में अपने को विभक्त और आबद्ध पाते हैं। जिस समय हम इस तत्त्व को जान लेते हैं कि हमारा लक्ष्य व केन्द्र वही आत्मा है और उसी को पाकर हमारी सब कामनायें और हमारा जीवन पूर्ण होता है, उस समय हमारे और आत्मा के बीच में जो

प्रकृति का आवरण है (जिस के कारण हम देहादि को ही आत्मा समझ कर शोक मोहादि के आवर्त्त में पड़े हुवे हैं) छिन्न भिन्न हो जाता है और केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ ८ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति
पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(ह, वै) प्रसिद्ध (सः, यः) वह जो (तत्, परमं, ब्रह्म) उस परब्रह्म को (वेद) जानता है (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही (भवति) होता है (अस्य) इस के (कुले) वंश में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न, भवति) नहीं होता (शोकम्) शोक को (तरति) तरता है (पाप्मानम्) पाप को (तरति) तरता है (गुहाग्रन्थिभ्यः) बुद्धि की गांठों से (विमुक्तः) मुक्त हुवा (अमृतः) मरणधर्म से रहित (भवति) हो जाता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—फिर उसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—जो पुरुष उस ब्रह्म को जान लेता है, वह यहां तक तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व और कर्त्तृत्व आदि का लेशमात्र भी अभिमान नहीं रहता। इस से कोई महाशय जीव ब्रह्म में अभेद की कल्पना न कर बैठें क्योंकि यदि इन में वास्तविक अभेद होता तो जीवात्मा को ब्रह्म के जानने की आवश्यकता ही न होती क्योंकि जब वह आप ही ब्रह्म है या ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं तो फिर—"कः केन कं विजानीयात्" कौन किस से किस को जाने। जानना तभी बनता है, जब ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न २ पदार्थ हों अतएव यहां ब्रह्म ही हो जाने से तात्पर्य यह है कि सिवाय ज्ञेय ब्रह्म के ज्ञाता अपने को भी भूल जाता है और इसी दशा का नाम योग की परिभाषा में असंप्रज्ञात समाधि है। जब साधक को यह समाधि सिद्ध हो जाती है, तब वह केवल ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मपर हो जाता है। इस प्रकार जब मुमुक्षु ब्रह्म में लीन हो जाता है, तब उस के कुल (सम्प्रदाय) में भी कोई अब्रह्मवित् नहीं रहता अर्थात् उस के प्रवचन से तो क्या दर्शन और स्मरण से भी लोगों के हृदय में ब्रह्मभाव का उदय हो जाता है। ऐसा जीवन्मुक्तपुरुष शोक को, जो सङ्कल्प विकल्प और इच्छा के विघात से उत्पन्न होता है तथा पाप को भी

जो कर्त्तव्य के आचरण और अकर्त्तव्य के आचरण से उत्पन्न होता है, केवल ज्ञानाग्निदग्ध: एक देह का आश्रय लेने से रह जाता है क्योंकि जब उस में कोई इच्छा ही नहीं रहती तो फिर उसके विघात की आशङ्का कैसी ? और न उस के लिये कोई कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य ही शेष रहता है क्योंकि वह विधि निषेध के मार्ग का पहिले ही अतिक्रमण कर चुका है। उस के लिये कोई देश, काल या समाज का बन्धन शेष नहीं रहता क्योंकि उस का किसी देश विशेष या कालविशेष या समाजविशेष से सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु उसके लिये प्रत्येकदेश और प्रत्येककाल और प्रत्येक समाज उस के इष्टदेव का ही आराधनालय है। अतएव वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर सर्वतोभाव से ब्रह्मपर होकर अमृत हो जाता है ॥ ९ ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तं, क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥ (६३)

पदार्थः-(तत्, एतत्) वह यह पराविद्या के दान का माहात्म्य (ऋचा) वक्ष्यमाण वेद के मन्त्र ने (अभि, उक्तम्) वर्णन किया है-(क्रियावन्तः) विहितकर्म के अनुष्ठान से युक्त (श्रोत्रियाः) अपराविद्या में कुशल (ब्रह्मनिष्ठाः) पराविद्या की जिज्ञासा रखने वाले (श्रद्धयन्तः) श्रद्धा को धारण किये हुवे (स्वयम्) आप (एकर्षिम्) एक ब्रह्म को (जुह्वते) ग्रहण करते हैं (यैः, तु) और जिन्हों ने (शिरोव्रतम्) ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप मुख्यव्रत को (विधिवत्) शास्त्र की आज्ञापूर्वक (चीर्णम्) धारण किया है, (तेषाम्, एव) उन्हीं के लिये (एताम्, ब्रह्मविद्याम्) इस ब्रह्मविद्या को (वदेत) कहे ॥ १० ॥

भावार्थः-अब उस पराविद्या के [जिस का इस उपनिषद् में सविशेष वर्णन किया गया है] अधिकारी कौन हो सकते हैं, इस को दिखलाते हुवे आचार्य इस खण्ड की समाप्ति करते हैं। वेदोक्त कर्मों के विधिवत् अनुष्ठान से जिन्हों ने अपराविद्या में कुशलता प्राप्त की है और ब्रह्म की जिज्ञासा से जो पराविद्या को प्राप्त होना चाहते हैं, तथा श्रद्धापूर्वक जो एक ब्रह्म की उपासना में तत्पर हैं, एवं ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुख्य व्रत को जिन्हों ने

धारण किया हुआ है अर्थात् सिवाय ब्रह्म के और कोई लक्ष्य वा उद्देश जिन का नहीं है, ऐसे पुरुष ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं, उन्हीं के प्रति इस विद्या का उपदेश फलप्रद हो सकता है ॥ १० ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥ ६४ ॥

पदार्थः (तद्, एतद्) उस इस (सत्यम्) अक्षर पुरुष को (पुरा) पहिले (अङ्गिराः, ऋषिः) अङ्गिरा ऋषि ने (उवाच) कहा (एतत्) इस ब्रह्म को (अचीर्णव्रतः) व्रत के आचरण से रहित पुरुष (न, अधीते) नहीं जानता (परमऋषिभ्यः) ब्रह्मविद्यासंप्रदाय के प्रवर्त्तक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिये (नमः) हमारा प्रणाम [सत्कार] हो । द्विर्वचन आदरातिशय और ग्रन्थ की समाप्ति सूचनार्थ है ॥ ११ ॥

भावार्थः—ग्रन्थ के आरम्भ में जो शिष्य ने प्रश्न किया था कि वह क्या वस्तु है जिस के जानने पर सब कुछ जाना जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में ही अङ्गिरा ऋषि ने शौनक के प्रति इस मुण्डकोपनिषद् का उपदेश किया है, जिस में साक्षात् वा परम्परा रूप से उस अविनाशी पुरुष का व्याख्यान किया गया है, जिस के जान लेने पर वास्तव में कुछ जानने को अवशिष्ट नहीं रहता क्योंकि कारण के जान लेने से कार्य का ज्ञान स्वयमेव होजाता है । अन्य भी अङ्गिरा जैसे प्रवक्ता और शौनक जैसे अध्येता इस ब्रह्मविद्या के कहने और सुनने के अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु वे लोग जो यम नियम रूप व्रताचरण से सम्पन्न नहीं हैं, कदापि इस के अधिकारी नहीं हो सकते । अन्त में उपनिषत्कार मुण्डक ऋषि कृतज्ञता प्रकाश करने के लिये ब्रह्मविद्या रूप सम्प्रदाय के प्रवर्तक महर्षियों को नमस्कार करते हैं । द्विर्वचन आदर और ग्रन्थ समाप्ति के द्योतनार्थ है ॥ ११ ॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीय खण्डः ॥ २ ॥

समाप्ता चेयमुपनिषद्

भूमिका

दशोपनिषदों में यह माण्डूक्योपनिषद् छठी है। यह सब उपनिषदों में इस लिये प्रधान मानी गई है कि इस में ब्रह्म के अभिधान प्रणव का दार्शनिक अलङ्कारके द्वारा व्याख्यान किया गया है। प्रणव (ओङ्कार) ही उपासना का मूल है, इस लिये उपासकों को इस उपनिषद् का अवलोकन अत्यन्त ही आवश्यक है। उपनिषद् के आशय को स्पष्ट करने के लिये हम ने गौडापादीय कारिका के आगम प्रकरण को भी अन्त में उद्धृत कर दिया है। आशा है कि उस से पाठकों को आशय समझनेमें सुगमता होगी॥

(अनुवादक)

ओ३म्

अथ माण्डूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चा-न्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

पदार्थः—(इदं, सर्वम्) यह सब (ओम्, इति, एतद्, अक्षरम्) ओम् यह अक्षर है (तस्य) उस ओम् का (उपव्याख्यानम्) विस्पष्ट विस्तार है (भूतम्) अतीतकाल (भवत्) वर्त्तमान काल (भविष्यत्) आगामी काल (इति) यह (सर्वम्) सब (ओङ्कारः, एव) ओङ्कार ही है । (यत्, च) और जो (अन्यत्) इस के अतिरिक्त (त्रिकालातीतम्) तीन काल से बीता हुवा है (तद्, अपि) वह भी (ओङ्कारः, एव) ओङ्कार ही है ॥१॥

भावार्थः—जैसे बीज वृक्ष का सार है और उस में सूक्ष्म रूप से सारा वृक्ष विद्यमान रहता है, ऐसे ही यह ब्रह्माण्ड जो कि उस पूर्ण पुरुष से उत्पन्न हुवा है, जिस का अभिधान ओ३म् यह अक्षर है, इस ओ३म् अक्षर का ही विस्तार है, अभिधान और अभिधेय की एकता को लक्ष्य में रख कर यह कहा गया है । भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् इन तीन कालों के अन्तर्गत जो कार्यरूप जगत् है, वह सब, और इन तीन कालों के अतिरिक्त अव्यकृत रूप से जो कारणात्मक जगत् है, वह भी सब ओङ्कार ही है । यद्यपि इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, इस लिये इस जगत् को उसी का विस्तार कहना चाहिये था, तथापि इस जगत् के निर्माण में प्रकृति अस्वतन्त्र होने से पुरुष के अधीन है, इस लिये पुरुष में ही अभि-धान रूपसे कार्यकारणात्मक जगत् का बीजत्वेन निर्देश किया गया है । "यह सब ओङ्कार ही है" यहां पर तात्स्थ्योपाधि से यह ओङ्कार में ही है या ओङ्कार से ही है, समझना चाहिये ॥ १ ॥

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

पदार्थः-(हि) निश्चय (एतत्, सर्वम्) यह सब (ब्रह्म) ब्रह्म है (अयम्) यह (आत्मा) सब में व्यापक (ब्रह्म) सब से बड़ा है (सः) वह (अयम्, आत्मा) यह आत्मा (चतुष्पात्) चार पाद वाला है ॥ २ ॥

भावार्थः-पूर्व श्लोक में ओ३म् शब्द से जिस का अभिधान किया गया है, इस श्लोक में उस अभिधेय ब्रह्म का विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं:- यद्यपि वह विभु होने से मानवर्जित है, तथापि समस्त मेय वस्तुओं में व्यापक होने से अथवा हम लोगों को (जिन का ज्ञान परिमित है और जो बिना सीमा वा इयत्ता के किसी वस्तु का अवधारण नहीं कर सकते) समझाने के लिये यहां पर वा अन्यत्र पुरुषसूक्तादि में उस के मान की कल्पना की गई है, वस्तुतः वह अपरिमेय है। यह आत्मा जो सब में व्यापक है [चतुष्पात्] चार पाद वाला है। गौ के समान चार पैर वाला नहीं, किन्तु जैसे एक सेर में १६ छटांक होती हैं, ऐसे ही ब्रह्म में ४ पाद हैं, "यैः पद्यते ब्रह्म वा यान् ब्रह्मणोऽङ्गीभूतान् पद्यन्ते जनास्ते पादाः" जिन से ब्रह्म प्राप्त होता है वा जो ब्रह्म के अङ्ग होने से प्राप्त होने योग्य हैं वे पाद कहलाते हैं। करण और कर्म दोनों का वाचक पाद शब्द है। अब वे चार पाद कौन से हैं, उन का विवरण क्रमशः आगे होगा ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

पदार्थः-(जागरितस्थानः) जाग्रत् अवस्था है स्थान जिस का (बहिः प्रज्ञः) बाह्य विषयों में बुद्धि रखने वाला (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग वाला (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस मुख वाला (स्थूलभुक्) स्थूलभोक्ता (वैश्वानरः) सम्पूर्ण मनुष्यों का नेता यद्वा विश्वरूप विग्रहवती शक्ति (प्रथमः, पादः) पहिला पाद है ॥३॥

भावार्थः-पहिले पाद का विवरण करते हैं-जाग्रत् अवस्था, जिस में देखना, सुनना, खाना, जाना इत्यादि समस्त व्यवहार साक्षात् रूप से होते हैं, उस ओ३म् के अभिधेय ब्रह्म का पहिला पाद है। जो कि जाग्रदवस्था में प्राणियों की बुद्धिवृत्ति बाह्य विषयों में लगी हुई होती है, इस लिये दूसरा विशेषण इस पाद का [बहिःप्रज्ञः] दिया गया है। तीसरा विशेषण सप्ताङ्ग है, सो जाग्रत् में अङ्गों का सुव्यक्त होना प्रकट ही है। वे सात अङ्ग कौन से हैं:-पहिला द्युलोक, जो उस का मूर्द्धस्थानी है। दूसरा-सूर्यलोक, जो चक्षुःस्थानी है। तीसरा-वायुलोक, जो प्राणस्थानी है। चौथा-आकाश-जो उदरस्थानी है। पांचवां-अन्न और उस का हेतु जल-जो वस्तिस्थानी है। छठा पृथिवीलोक-जो पादस्थानी है। सातवां-अग्नि-

जो उस का मुखस्थानी है । ये सात अङ्ग हैं, जिन से वह चेष्टा करता है। चौथा-विशेषण [एकोनविंशतिमुखः] है । वे १९ मुख ये हैं:-५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय ५ प्राण ४ अन्तःकरण । यह प्रकट है कि जाग्रदवस्था में सारे व्यवहार इन्हीं के द्वारा किये जाते हैं । पांचवां विशेषण [स्थूलभुक्] है, जिस का आशय यह है कि जाग्रत् में शब्दादि स्थूल विषयों का भोजन करता है, बस इस जाग्रदवस्था में जो विश्व की विग्रहवती व्यक्ति है, जिस का साक्षात् अनुभव किया जाता है, वह उस ब्रह्म का पहिला पाद है और इसी लिये इस का नाम "वैश्वानर" है ॥

विदित हो कि यह ब्रह्म के निज स्वरूप का मान या विभाग नहीं है, क्योंकि वह तो विभु और अनन्त होने से अपरिमेय और अचिन्तनीय है, किन्तु उस के शबल स्वरूप का जो विश्व में अध्यारोपित हो रहा है और जिस को वेदादि में विराट् या ब्रह्माण्ड के नाम से वर्णन किया गया है, उस के महत्त्व और वैभव को दिखलाने के लिये मान या विभाग किया गया है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(स्वप्नस्थानः) स्वप्नावस्था है स्थान जिस का (अन्तःप्रज्ञः) भीतर की ओर बुद्धि रखनेवाला (सप्ताङ्गः, सात अङ्ग वाला एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस मुख वाला (प्रविविक्तभुक्) वासनामात्र का भोजी (तैजसः) विषय शून्य बुद्धि में केवल प्रकाशरूप से अवभासित (द्वितीयःपादः) दूसरा पाद है ॥४॥

भावार्थः-दूसरे पाद का विवरण करते हैं:—स्वप्नावस्था जिस में मन बाह्य पदार्थों से हटकर अन्तर्मुख हो जाता है, इस का दूसरा पाद है । इस अवस्था में मन बाह्यविषयों और इन्द्रियों के संयोग की अपेक्षा न करके जाग्रदनुभूत व्यवहारों के संस्कारों से चित्रित हुवा अपने भीतर ही सब कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है, इस लिये [अन्तःप्रज्ञः] विशेषण दिया गया है । सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से जिन का वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया है, यद्यपि इस अवस्था में जाग्रत के समान बाह्य चेष्टा नहीं होती, तथापि मन अपने भीतर ही इन करणाधिकरणों से काम लेता है, इस लिये इस पाद में भी ये दोनों विशेषण सुरक्षित रक्खे गये हैं । चौथा विशेषण [प्रविविक्तभुक्] है । यतः इस अवस्था में जाग्रत् के समान स्थूल

शब्दादि विषयों का मूर्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता, किन्तु मन की वासना से उनको ग्रहण किया जाता है, अतः प्रविविक्तभुक्=एकान्तभोजी कहा गया। इस पाद का नाम "तैजस" इस लिये है कि इसमें बुद्धि विषय के आवरण से शून्य होती है, संस्कारों का प्रतिबिम्ब पड़ने से केवल एक आभास मात्र उस में होता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

पदार्थः-(यत्र) जब (सुप्तः) सोया हुवा (कं-चन, कामम्) किसी अभिलाष को (न, कामयते) नहीं चाहता (कं-चन, स्वप्नम्) किसी स्वप्न को (न, पश्यति) नहीं देखता (तत, सुषुप्तम् वह सुषुप्त है । (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्ति है स्थान जिस का (एकीभूतः) कारणभावापन्न (प्रज्ञानघनः एव) बुद्धि जिस में जड़ हो जाती है ऐसा (आनन्दमयः) आनन्द जैसा (हि) निश्चय (आनन्दभुक्) आनन्दभोजी (चेतोमुखः) चेतनता का द्वार (प्राज्ञः) भूत, भविष्यद् का जानने वाला तृतीयः, पादः) तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

भावार्थः-अब तीसरे पाद का विवरण करते हैंः-जिस दशा में मनुष्य न किसी अर्थ को चाहता और न किसी स्वप्न को देखता है अर्थात् उस की बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की चेष्टायें निरुद्ध हो जाती हैं, उस को सुषुप्ति कहते हैं और यही उस शबल ब्रह्म का तीसरा पाद है, इसमें जोकि बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों वृत्तियां एक होकर आत्मा में लीन हो जाती हैं, इस लिये पहिला विशेषण [एकीभूतः] दिया गया है, तथा रात्रि में जैसे सब कुछ अन्धकाराच्छन्न होने से घन के समान प्रतीत होता है, ऐसे ही इस अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न के समस्त व्यवहार निद्रा के अन्धकार से घनीभूत जैसे हो जाते हैं अर्थात् उन में से किसी विशेष का अवधारण और अविशेष का निराकरण नहीं कर सकता, इस लिये दूसरा विशेषण [प्रज्ञानघन एव] दिया गया है । एवं सुषुप्ति में मानसिक और नैमित्तिक दुःखों का अभाव होने से तीसरा विशेषण [आनन्दमयः] दिया गया है, जो कि यह आनन्द क्षणिक होता है, इसी लिये " आनन्दमयः " कहा गया है, न कि आनन्दरूप । यहां प्राचुर्यार्थ में " मयट् " है, न कि विकारार्थ में । जोकि

इस अवस्था में इस आनन्दस्वरूप स्थिति का प्राणी से अनुभव किया जाता है इस लिये चौथा विशेषण "आनन्दभुक्" है । चेतना के प्रवर्तक जाग्रत् और स्वप्न का कारण सुषुप्ति है, अतएव पांचवां विशेषण [चेतोमुखः] दिया गया है । छठा विशेषण " प्राज्ञ " है और यही इस तीसरे पाद का नाम है । इस पर यह शङ्का हो सकती है कि जब सुषुप्ति में प्राणी सर्वथा बोधशून्य हो जाता है, तब इस अवस्था का नाम प्राज्ञ क्यों रक्खा गया ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि उस अवस्था में थोड़ी देर के लिये ज्ञान का अवरोध हो जाता है, तथापि जाग्रत् वा स्वप्न में जो ज्ञान के संस्कार हैं, वे इसी के क्रोड़ में पुष्टि पाते हुवे यथासमय उद्बोधित होते हैं ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(एषः) यह ओ३म् (सर्वेश्वरः) सब का ईशिता है (एषः) यह (सर्वज्ञः) सब का ज्ञाता है (एषः) यह (अन्तर्यामी) सब के अन्तर प्रविष्ट होकर उन का नियन्ता है (एषः) यह (सर्वस्य) सब का (हि) जिस लिये (भूतानाम्) भूतों के (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति और नाश जिस से होते हैं, इस लिये (योनिः) कारण है ॥ ६ ॥

भावार्थः—यह महान् पुरुष जो ओ३म् का अभिधेय है, अनन्य भाव से सम्पूर्ण जगत् का (जो उक्त तीनों अवस्थाओं में विभक्त है) अधिष्ठाता है । विना ज्ञान के अधिष्ठातृत्व हो नहीं सकता, अतएव दूसरा विशेषण " सर्वज्ञ " दिया गया है अर्थात् वह सब को सब दशा में जानता है, उस का ज्ञान देश काल और वस्तु के व्यवधान से रहित है । ज्ञान विना उपलब्धि के नहीं हो सकता, इस लिये तीसरा विशेषण "अन्तर्यामी" रक्खा गया है अर्थात् वह वस्तु मात्र के भीतर अनुप्रविष्ट हुवा उन का नियमन कररहा है । बस यही पुरुष जो सब का ईशिता, ज्ञाता और नियन्ता है, उस सब का (जिस का ईशन, ज्ञान और नियमन कर रहा है) उत्पत्ति और नाश का हेतु है । अन्यत्र भी उपनिषद् कहती है:—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व"—जिस से यह सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और जिस से उत्पन्न हुवे जीते हैं और जिस में नष्ट होकर प्रवेश करते हैं, उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

पदार्थः-(न, अन्तःप्रज्ञम्) भीतर की ओर बुद्धि वाला नहीं है (न, बहिःप्रज्ञम्) न बाहर की ओर बुद्धि वाला है (न, उभयतः प्रज्ञम्) न भीतर और बाहर दोनों ओर बुद्धि वाला है (न, प्रज्ञानघनम्) न घनीभूत बुद्धि वाला है (न, प्रज्ञम्) न बुद्धि वाला है (न, अप्रज्ञम्) और न बुद्धिहीन है (अदृष्टम्) अदृश्य (अव्यवहार्यम्) अगम्य (अग्राह्यम्) अग्राह्य (अलक्षणम्) अलिङ्ग (अचिन्त्यम्) अचिन्तनीय (अव्यपदेश्यम्) अकथनीय (एकात्मप्रत्ययसारम्) एक आत्मप्रत्यय ही है सार जिस का (प्रपञ्चोपशमम्) जाग्रदादि प्रपञ्च जहां शान्त हो जाते हैं (शान्तम्) अविकृत (शिवम्) आनन्दमय (अद्वैतम्) भेदविकल्परहित (चतुर्थम्) तुरीय=चौथा पाद (मन्यन्ते) मानते हैं (सः) वह (आत्मा) आत्मा है (सः) वह (विज्ञेयः) जानने योग्य है ॥ ७ ॥

भावार्थः-अब चौथे पाद का विवरण करते हैं। प्रथम तीन पादों में ब्रह्म के शबल स्वरूप का जो औपचारिक है, वर्णन है । अब इस चौथे पाद में उस के निज स्वरूप का जो वास्तविक है, वर्णन किया जाता है । जाग्रदवस्था में बुद्धि के बहिर्मुख होने से "बहिःप्रज्ञ", स्वप्नावस्था में बुद्धि के अन्तर्मुख होने से " अन्तःप्रज्ञ " और सुषुप्तावस्था में उस के घनीभूत होने से "प्रज्ञानघन" विशेषण दिये गये थे जो कि केवल ब्रह्म इन तीनों अवस्थाओं से अतीत है, इस लिये उस में बहिःप्रज्ञत्व, अन्तःप्रज्ञत्व और प्रज्ञानघनत्व ये तीनों धर्म नहीं रह सकते, क्योंकि जब बुद्धि बाहर है तो भीतर नहीं और भीतर है तो बाहर नहीं, पर ब्रह्म विभु होने से सर्वत्र है, इस लिये उस में उभयतःप्रज्ञत्व भी नहीं बन सकता और न उस की ज्ञानशक्ति कभी आवरुद्ध होती है, इस लिये " प्रज्ञानघन " भी उस को नहीं कह सकते । करणानपेक्ष होने से उस को प्रज्ञ भी नहीं कह सकते, अर्थात् ज्ञान बिना अन्तःकरण और बहिष्करणों नहीं हो सकता और ब्रह्म करणों के बन्धन से पृथक् है " न तस्य कार्यं करणं च विद्यते " उस का न कोई कार्य है और न करण, अतएव उस में अस्मदादिकों के समान प्रज्ञत्व भी नहीं बन सक्ता

और जो कि वह चेतनस्वरूप है, जीवों के समान कभी प्रकृति के बन्धन में लिप्त नहीं होता, अतएव उस में अप्रज्ञत्व=अज्ञान का भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। करणवर्जित और ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही वह अदृष्ट है, क्योंकि संसार में करण और अचेतनता के योग से ही दृष्टिगोचरता उत्पन्न होती है। अदृष्ट होने से ही अव्यवहार्य है, क्योंकि दृश्य पदार्थ ही व्यवहार में लाया जाता है, न कि अदृश्य। जो वस्तु व्यवहार में लाई जाती है, उस का कर्मेन्द्रियों से ग्रहण होता है, जब ब्रह्म व्यवहार में ही नहीं लाया जा सकता तब उस का कर्मेन्द्रियों से ग्रहण असम्भव है और जब अग्राह्य है तो अलिङ्ग होगा स्वतएव सिद्ध है। लिङ्गरहित होने से अचिन्त्य है, जब उस का कोई लक्षण ही नहीं तब उस का चिन्तन कैसा ? जो वस्तु चिन्तन में आ सकती है, उस का शब्दों से व्यपदेश=कथन किया जाता है, जब अचिन्तनीय है तो फिर व्यपदेश कैसा ? जब वह अव्यपदेश्य है तो फिर उस के विषय में कोई क्या कह सकता है ? अर्थात् कहना सुनना कुछ नहीं बनता। यहां तक उस के शबल स्वरूप का जो केवल औपचारिक है और जिस को अज्ञानी जन ब्रह्म का सत्य स्वरूप समझने लगते हैं, निषेध करके अब उस के शुद्ध (केवल) स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। वह क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषद् कहती है कि यह सारा प्रपञ्च जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में भासित होता है, जहां शान्त हो जाता है, वह केवल आत्मप्रत्यय ही है प्रमाण जिस का, ऐसा अनुभवगम्य, आनन्दमय, विकाररहित, अद्वितीय चौथा पाद है, जिस को तुरीयावस्था भी कहते हैं और यही उस जानने योग्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

पदार्थः—(सः) वह (अयम्, आत्मा) यह आत्मा (अध्यक्षरम्) अक्षर में अधिष्ठित है, वह अक्षर (ओङ्कारः) ओङ्कार है, वह ओङ्कार (अधिमात्रम्) मात्राओं में अधिष्ठित है। (पादाः) पाद (मात्राः) मात्रा हैं (च) और (मात्राः) मात्रायें (पादाः) पाद हैं (अकारः) अकार (उकारः) उकार (मकारः) मकार (इति) बस ॥ ८ ॥

भावार्थः—वह अभिधेय रूप आत्मा (जो चार पाद वाला है, जिन का वर्णन पूर्व कर चुके हैं) अक्षर रूप अभिधान में अधिष्ठित है। वह अक्षर

क्या है? ओङ्कार। यह ओङ्कार जो ब्रह्म का अभिधान है, मात्राओं में अधिष्ठित है। मात्रा क्या हैं? वही पाद जिन का वर्णन कर चुके हैं। पाद क्या हैं? ये ही मात्रायें जिन का निरूपण किया जायगा, इस से पाद और मात्राओं की समानाधिकरणता दिखलाई गई है। अर्थात् जैसे पाद मिल कर अभिधेय को सिद्ध करते हैं, ऐसे ही मात्रायें मिलकर अभिधान को निष्पन्न करती हैं। वे मात्रायें तीन हैं अर्थात् अकार, उकार और मकार। अब यह प्रश्न होता है कि पाद चार बतलाये गये हैं और मात्रायें तीन, फिर इन की समानाधिकरणता क्योंकर सिद्ध हो सकती है? इस का उत्तर यह है कि चतुर्थ पाद जिस को तुरीय कहा गया है, अमात्र है, अतएव इन की समानाधिकरणता में बाधा नहीं पड़ती ॥ ८ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वा-द्वाप्नोति-ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

पदार्थः-(जागरितस्थानः) जाग्रदवस्था है, स्थान जिसका (वैश्वानरः) वैश्वानरसंज्ञक (अकारः) अकार (प्रथमा,मात्रा) पहिली मात्रा है [तस्य] उस अकार की (आप्तेः) व्याप्ति होने से (वा) वा (आदिमत्त्वात्) पहिला होने से (ह,वै) निश्चय (सर्वान्,कामान्) सब कामों को (आप्नोति) पाता है (च) और (आदिः)प्रथम (भवति) होता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥

भावार्थः-इस श्लोक में पहिले पाद और पहिली मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाते हैं:-जागरितस्थान विश्वसंज्ञक जो पहिला पाद है, वही ओङ्कार की पहिली मात्रा अकार है। जैसे अकार सब से पहिला अक्षर है और सब वर्णों में व्याप्त है अर्थात् विना उस के कोई वर्ण नहीं बोला जाता, ऐसे ही विश्वसंज्ञक पाद भी सब पादों से पहिला और सब पादों में व्यापक है अर्थात् स्वप्न और सुषुप्ति में भी जाग्रदवस्था का कुछ प्रभाव शेष रहता है, इस प्रकार जो बुद्धिमान् इस पहिले पाद और पहिली मात्रा के एकत्व को जानता है, वह महात्माओं में अग्रणी होकर सम्पूर्ण शुभ कामनाओं को प्राप्त होता है ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

पदार्थः-(स्वप्नस्थानः) स्वप्नस्थान वाला (तैजसः) तैजससंज्ञक (उकारः) उकार (द्वितीया,मात्रा) दूसरी मात्रा है (तस्य) उस उकार के (उत्कर्षात्) उत्कृष्ट होने

से (वा) या (उभयत्वात्) मध्यस्थ होने से (ह, वै) निश्चय (ज्ञानसन्ततिम्) विज्ञान के विस्तार को (उत्कर्षति) बढ़ाता है (च) और (समानः) तुल्य (भवति) होता है (अस्य,कुले) इस के कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्म का न जानने वाला (न, भवति) नहीं होता (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है॥

भावार्थः—अब दूसरे पाद और दूसरी मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाई जाती है। स्वप्नस्थान वाला तैजससंज्ञक जो दूसरा पाद है, वही ओंकार की दूसरी मात्रा उकार है। जैसे उकार, अकार की अपेक्षा उत्कृष्ट है अर्थात् उस से विशिष्ट है और अकार और मकार दोनों के बीच में है। ऐसे ही तैजसपाद विश्वपाद की अपेक्षा सूक्ष्म होने से उत्कृष्ट है और विश्व और प्राज्ञ दोनों के मध्य में भी है, अतएव इस की समानाधिकरणता उकार से है। यद्यपि सब वर्णों में पहिला और व्याप्त होने से वास्तव में अकार उत्कृष्ट है, तथापि यहां पर पाठक्रम से उकार की उत्कृष्टता औपचारिक है। इस प्रकार जो सज्जन दूसरे पाद और दूसरी मात्रा की एकता को जानता है, वह उत्कर्ष के प्रताप से अपनी बुद्धि को बढ़ाता है और मित्रपक्ष के समान शत्रुपक्ष का भी प्रिय होता है और उस के कुल में कोई मूर्ख या नास्तिक नहीं होता॥ १९॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥११॥

पदार्थः—(सुषुप्तस्थानः) सुषुप्तिस्थान वाला (प्राज्ञः) प्राज्ञसंज्ञक (मकारः) मकार (तृतीया, मात्रा) तीसरी मात्रा है [तस्य] उस मकार के (मितेः) मान से (वा) या (अपीतेः) एकीभाव से (ह, वै) निश्चय (इदम्, सर्वम्) इस सब को (मिनोति) मान करता है (च) और (अपीतिः) आत्ममय (भवति) होता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है॥ ११॥

भावार्थः—अब तीसरे पाद और तीसरी मात्रा की समानाधिकरणता दिखलाते हैं:—सुषुप्तस्थान वाला प्राज्ञ संज्ञक जो तीसरा पाद है, वही ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार है, जैसे अन्तिम मात्रा मकार में अकार उकार प्रविष्ट होकर निकलते हुवे से प्रतीत होते हैं अर्थात् मकार से उन का मान किया जाता है, तथा अन्त्य अक्षर मकार में अकार उकार लीन होकर एकीभूत हो जाते हैं, ऐसे ही तृतीय पाद प्राज्ञ में विश्व और तैजस प्रविष्ट होकर निकलते हैं, अर्थात् सुषुप्तावस्था में जाग्रत् और स्वप्न का प्रवेश और निर्गम होता है, एवं ये दोनों अवस्थायें सुषुप्ति में लीन होकर एकीभूत हो जाती हैं, अतएव तीसरी मात्रा मकार की तीसरे पाद प्राज्ञ के साथ समानाधि-

करणता सिद्ध है । इस प्रकार जो महात्मा इन दोनों की एकता को जानता है, वह सारे जगत् का मान कर सकता है अर्थात् उस को यथार्थ रूप से जान सकता है और इस विज्ञान के प्रभाव से अविद्या के आवरण को (जिस ने आत्मस्वरूप को ढक रक्खा है) हटाकर आत्ममय हो जाता है, अर्थात् केवल एक आत्मा को ही देखता है, अन्य किसी को नहीं ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

पदार्थः-(चतुर्थः) चौथा पाद (अमात्रः) मात्रारहित (अव्यवहार्यः) व्यवहार के अयोग्य (प्रपञ्चोपशमः) कल्पनातीत (शिवः) कल्याणरूप (अद्वैतः) भेदवर्जित है (एवम्) इसप्रकार (ओङ्कारः) ओंकार है (आत्मा, एव) आत्मा ही (आत्मना) आत्मा से (आत्मानम्) आत्मा में (संविशति) प्रवेश करता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है । द्विर्वचन ग्रन्थ समाप्ति सूचक है ॥१२॥

भावार्थः-यहां तक तीन पादों की समानाधिकरणता तीन मात्राओं के साथ दिखलाई गई, अब चौथा पाद जो कि अमात्र, अव्यवहार्य, कल्पनातीत, आनन्दमय और भेदवर्जित है, इस लिये उस का कोई अभिधान नहीं हो सकता, किन्तु वही अभिधेय है अर्थात् अभिधानरूप ओङ्कार की ३ मात्रायें अभिधेयरूप आत्मा के तीन पादों की जो औपचारिक हैं, अभिधायक हैं, चौथा पाद जो वास्तव में आत्मा का शुद्धस्वरूप है और जिस की प्राप्ति के लिये ही इस उपनिषद् में अभिधान अभिधेय का सम्बन्ध निरूपण किया गया है, अमात्र और अव्यवहार्य होने से सातिशयविनिर्मुक्त है, जब वह अद्वैत है तो फिर उस की समानाधिकरणता किस से हो सकती है । हां, जो मुमुक्षु इन तीनों मात्राओं की तीनों पादों से एकता करके इस चौथे पाद का चिन्तन और विवेचन करता है, वह उस आत्मतत्त्व के यथार्थज्ञान का अधिकारी अवश्य होता है, परन्तु उस पद की प्राप्ति तभी होती है, जब कि उस का आत्मा ही अपने स्वरूप से परमात्मा में प्रवेश करता है अर्थात् केवल वाचिकज्ञान या अभिधानमात्र से उस पद की प्राप्ति नहीं होती । हां, क्रमशः पादों और मात्राओं का ज्ञान ब्रह्मप्राप्ति के लिये एक प्रकार का आलम्बन हो सकता है; साक्षात् प्राप्ति तो जब आत्मा ही आत्मा में प्रवेश करता है, तभी होती है । इस प्रकार जो जानता है, वही ब्रह्म की प्राप्ति का अधिकारी है ॥

इति माण्डूक्योपनिषद्

ओ३म्

इस उपनिषद् के आशय को व्यक्त करने के लिये स्वामी गौड़पादाचार्य ने कुछ कारिका लिखी हैं, उन में से आगम प्रकरण को उपयोगी समझ कर सानुवाद हम उद्धृत करते हैं:—

अथ

गौड़पादीय कारिकायाम्

आगमप्रकरणम्

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधास्मृतः ॥ १ ॥

विश्व बहिःप्रज्ञ, तैजस अन्तःप्रज्ञ और प्राज्ञ घनप्रज्ञ है । एक ही आत्मा तीन प्रकार का है ॥

दक्षिणाक्षि मुखे विश्वो मनस्यन्तश्च तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २ ॥

नेत्र और मुख में विश्व, मन में और भीतर तैजस, आकाश में और हृदय में प्राज्ञ रहता है, देह में तीन प्रकार से व्यवस्थित है ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥

विश्व नित्यस्थूलभोजी, तैजस प्रविविक्तभोजी और प्राज्ञ आनन्दभोजी है, तीन प्रकार का भोग जानना चाहिये ॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधातृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

विश्व को स्थूल, तैजस को प्रविविक्त और प्राज्ञ को आनन्द तृप्त करता है, तीन प्रकार की तृप्ति समझनी चाहिये ॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्त्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

तीनों धाम (अवस्थाओं) में जो भोज्य है और जो भोक्ता कहा गया है, इन दोनों को जो जानता है, वह भोग करता हुआ लिप्त नहीं होता ॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून् पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

विद्यमान सब भावों की उत्पत्ति होती है, अविद्यमानों की नहीं, यह निश्चय है । पुरुष (परमात्मा) भिन्न २ गुण, कर्म, स्वभाव वाले चेतन के किरण जिन में रहते हैं, ऐसे सब भाव और पदार्थों को प्राण के द्वारा उत्पन्न कराता है अर्थात् कारण से कार्य को बनाता है ॥

विभूतिं प्रसवन्त्यन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

पूर्व श्लोक में गौड़पाद स्वामी अपना मत कहकर अब सृष्टि के विषयमें अन्यों के मत दिखलाते हैं:—

कोई २ सृष्टि पर विचार करने वाले ईश्वर की विभूति (महिमा) को सृष्टिकर्तृ मानते हैं । कोई २ अमतवादी इस सृष्टि को स्वप्नमायास्वरूपा मानते हैं अर्थात् वास्तव में नहीं किन्तु कल्पित है ऐसा मानते हैं ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिता ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥

कोई सृष्टि के विषय में यह निश्चय रखते हैं कि ईश्वर की इच्छा (सङ्कल्प) मात्र से यह सृष्टि उत्पन्न होती है, कोई कालचिन्तक (ज्योतिर्विद्) कालसे ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं ॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

कोई जीवों के कर्मफलभोग के लिये सृष्टि को मानते हैं । कोई ऐसा मानते हैं कि ईश्वर सृष्टि को बनाकर आप ही उस में क्रीडा कर रहा है । कोई कहते हैं कि वह आप्तकाम है, उस को क्या इच्छा ? किन्तु उस का स्वभाव ही यह है कि वह सृष्टि को बनावे ॥

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक; इन तीनों दुःखों की निवृत्ति का जो कारण है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप चौथा पाद है, उस को विभु इस लिये कहते हैं कि उसी से विश्वादि पूर्व के तीन पाद उत्पन्न होते हैं। तीनों पादों का अधिष्ठाता होने से वही ईशान है, दुःखनिवृत्ति का कारण होने से प्रभु है, अपने स्वरूप में अवस्थित होने से अव्यय है, सब भावों और कार्यों में अविकल होने से अद्वैत है ॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥ ११ ॥

विश्व और तैजस कार्य और कारण (फल और बीज) में बन्धे हुये माने जाते हैं और प्राज्ञ केवल कारण (बीज) में बन्धा हुआ है, ये दोनों अर्थात् कार्य और कारण भाव तुर्य (चौथे) में सिद्ध नहीं होते ॥

नात्मानं नापरांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

न अपने को न दूसरों को न सत्य को न झूठ को प्राज्ञ अर्थात् सुषुप्त किसी को भी नहीं जानता, परन्तु तुर्य अर्थात् आत्मा सदा सर्वद्रष्टा है ॥

द्वैतस्याऽग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

यद्यपि द्वैतभाव का ग्रहण न करना प्राज्ञ और तुर्य दोनों में समान है, तथापि बीज निद्रायुक्त होने से प्राज्ञ का द्वैत को न देखना क्षणिक है अर्थात् जागने पर फिर देखने लगता है, यह बात द्रष्टृस्वरूप होने से तुर्य आत्मा में नहीं पाई जाती ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

पहिले दो विश्व और तैजस स्वप्न और निद्रा अर्थात् रजस् और तमस् से युक्त हैं, तीसरा प्राज्ञ स्वप्न अर्थात् रजोवर्जित है, परन्तु निद्रा अर्थात् तमोयुक्त है । चौथे तुर्य आत्मा में तत्त्ववित् जन निद्रा और स्वप्न=रजस् और तमस् इन दोनों का अभाव देखते हैं ॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

कुछ का कुछ ग्रहण करता हुवा स्वप्न का अनुभव करता है और तत्त्व को न जानता हुवा निद्रासेवी होता है, तात्पर्य यह कि स्वप्न में अन्यथा ग्रहण और निद्रा में तत्त्व का न जानना होता है, इन दोनों के विपर्यास=कार्य कारण रूप बन्धन के क्षीण होने पर चौथे तुरीय पद को प्राप्त होता है ॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ १६ ॥

अनादि काल से प्रवृत्त माया (मोह) से सोया हुवा अर्थात् यह मेरा है, मैं इस का हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं, दीन हूं, समृद्ध हूं, इत्यादि स्वप्नों को देखता हुवा जीव जब जागता है अर्थात् अपने स्वरूप को पहचानता है, तब अज, अनिद्र, अस्वप्न और अद्वैत आत्मा को जानता है ॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ १७ ॥

प्रपञ्च=मिथ्याज्ञान यदि विद्यमान है तो निःसन्देह निवृत्त भी होगा क्योंकि जब तक जीव माया=मोह में बद्ध है, तब तक द्वैत है, परमार्थ में तो केवल अद्वैत ही है अर्थात् मोह के पाश में बन्धा हुवा जीव प्रकृतिजन्य नाना पदार्थों को आत्मा में आरोपित करता है, तत्त्वज्ञान होने पर उस का यह भ्रम निवृत्त हो जाता है और वह समझ जाता है कि न मैं किसी का हूं, और न मेरा कोई है किन्तु मैं अद्वैत हूं ॥

विकल्पो विनिवर्त्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

यदि किसी से कल्पित हो तो विकल्प=सन्देह निवृत्त हो सकता है, उपदेश से यह भेदवाद है, ज्ञान होने पर द्वैत=भेद नहीं रहता । तात्पर्य यह है कि जब तक उपदेश=वाणी का व्यवहार है, तब तक द्वैत=भेद अनिवार्य है ॥१८॥

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

विश्व की अकार की विवक्षा में प्रथम आदि की समता प्रकट होती है फिर मात्रा की सम्प्रतिपत्ति होने पर अर्थात् विश्व में अकार की योजना करने पर आप्ति की समता होती है ॥

तैजसस्योत्वविज्ञाने उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजस को उकार जानने पर उत्कर्ष स्पष्ट दीखता है मात्रा की सम्प्रतिपत्ति होने पर वैसा ही उभयत्व होता है ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

प्राज्ञ के मकार होने पर पहिले मान की समता प्रकट होती है पुनः मात्रा की प्राप्ति होने पर लय की समता होती है ॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
सम्पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

तीनों धामों (पादों) में जो तुल्यरूप से व्याप्त है उस सामान्य (एकरस आत्मा) को जो विद्वान् निश्चित होकर जानता है, वह महामुनि सब लोकों में पूज्य और नमस्करणीय है ॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकार विश्व को, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त कराता है, चौथे अमात्र में गति नहीं है ॥

ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादामात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशोज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

ओङ्कार को पादशः अर्थात् पादक्रम से जाने, निःसन्देह पाद ही मात्रा हैं, ओङ्कार को पादशः जान कर फिर कुछ चिन्तन न करे ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

ओङ्कार को चित्त में लगावे, ओङ्कार निर्भय ब्रह्म है, ओङ्कार में जो नित्य युक्त है, उस के लिये कहीं कुछ भय नहीं है ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

प्रणव ही अपरब्रह्म (जिस का पहिले तीन पादों में वर्णन किया गया है) है और प्रणव ही परब्रह्म (जिस का चौथे पाद में निरूपण है) है, प्रणव ही अकारण होने से अपूर्व एकरस होने से अनन्तर, अनन्य होने से अबाह्य, अकार्य होने से अनपर और अक्षय होने से अव्यय है ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमोन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

उत्पादक होने से प्रणव ही सब का आदि है, पालक होने से मध्यम है, नाशक होने से अन्त है । इस प्रकार प्रणव को जान कर तत्पश्चात् उस को प्राप्त होता है ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

सब के हृदय में वर्त्तमान प्रणव को ही ईश्वर जाने, सर्वव्यापक ओङ्कार को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरोजनः ॥ २९ ॥

जिस की कोई मात्रा (मान करने का साधन) नहीं किन्तु अनन्त होना ही जिस की मात्रा है, ऐसा द्वैत का उपशम शिवस्वरूप जो ओङ्कार है, उस को जिस ने जानलिया वह साक्षात् मुनि (मननशील) है, इतर जन नहीं ॥

इति माण्डूक्योपनिषदर्थाविष्कारिण्यां
गौड़पादीयकारिकायाम्
आगमप्रकरणं
समाप्तम्